वर्ष ५३ अंक १०
अक्तूबर २०१५
वार्षिक ८०
मूल्य रु १०
विवेक ज्योति
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)
स्वामी अखण्डानन्द की १५०वीं
जयन्ती के उपलक्ष्य में
मानव-सेवा अंक

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २०१५

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी मेधजानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५३
अंक १०

वार्षिक ८०/– **एक प्रति १०/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ३७०/–

आजीवन (२० वर्षों के लिए) – रु. १,४००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक या साधारण मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएं

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ११०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ५००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

अक्तूबर माह के जयन्ती और त्योहार

०६	**स्वामी अभेदानन्द**
१२	**स्वामी अखण्डानन्द**
२१	**दुर्गा पूजा (महाष्टमी)**
२२	**विजयादशमी**
२६	**शरद पूर्णिमा**
२७	**महर्षि वाल्मीकि, मीराबाई जयन्ती**

‘विवेक-ज्योति’ की मूल्य-वृद्धि सूचना

सम्माननीय पाठको ! ‘विवेक ज्योति’ कई वर्षों से घाटे में ही चलती आ रही है। पाठकों पर अधिक भार न पड़े, इसलिए हमने पिछले वर्ष बहुत कम मूल्य-वृद्धि की थी। सभी सामग्रियों – कागज, मुद्रण के गुणवत्ता सुधार और डाक, वेतन आदि की दरों में पर्याप्त वृद्धि से ‘विवेक-ज्योति’ पर आर्थिक भार बहुत अधिक पड़ रहा है। इसलिये हम इसका थोड़ा सा मूल्य बढ़ाने जा रहे हैं। अब जनवरी-२०१५ से नयी मूल्य-राशि होगी – **वार्षिक शुल्क रु. १००/-, एक प्रति रु. १२/-, पाँच वर्षों के लिये रु. ४६०/- और आजीवन शुल्क (२० वर्षों के लिये) – रु. १७००/-, संस्थाओं के लिये वार्षिक रु. १४०/- और पाँच वर्षों के लिये रु. ६५०/-।** आशा है आप हमारा पूर्ववत सहयोग करते रहेंगे। - स्वामी स्थिरानन्द, व्यवस्थापक, ‘विवेक-ज्योति’ कार्यालय।

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

स्वामी अखण्डानन्द जी की यह भव्य मूर्ति पश्चिम बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले में अवस्थित रामकृष्ण मिशन आश्रम, सारगाछी की है। स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज (१८६४-१९३७) श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग शिष्य थे। ये रामकृष्ण संघ के तीसरे संघाध्यक्ष भी थे। रामकृष्ण मठ-मिशन के वर्तमान अध्यक्ष परम पूज्य स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज ने इस मूर्ति का अनावरण २३ दिसम्बर, २००६ को किया और सारगाछी आश्रम से ३ किलोमीटर दूर महुला ग्राम में नए परिसर का प्रारम्भ किया, जहाँ स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज ने ११ महीने तक निवास किया था और रामकृष्ण मिशन का पहला राहत-कार्य किया था। सारगाछी ग्राम में रामकृष्ण मिशन आश्रम का शुभारम्भ १८९७ में किया गया। यह रामकृष्ण मिशन का सबसे पुराना आश्रम है। यहाँ बहुत से शैक्षिक और अन्य सेवा-प्रकल्प संचालित किए जाते हैं। जैसे – १ उच्च विद्यालय, ३ प्राथमिक विद्यालय, १ आवासीय शिक्षक प्रशिक्षण केन्द्र, २ छात्रावास, ७ नि:शुल्क कोचिंग सेन्टर, ६ वाचनालय सहित पुस्तकालय, १ एलोपैथी और होम्योपैथी संयुक्त डिस्पेन्सरी और १ सचल स्वास्थ्य केन्द्र इत्यादि।

वर्ष ५३ अक्तूबर २०१५ अंक १०

दुर्गा वन्दना

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ।।

– जो पुण्यात्माओं के भवनों में स्वयं ही लक्ष्मी के रूप में, पापियों के यहाँ दरिद्रता के रूप में और शुद्धचित्तवाले व्यक्ति के हृदय में बुद्धि के रूप में, सत्पुरुषों में श्रद्धा के रूप में तथा कुलीनों में लज्जा के रूप में निवास करती हैं, उन देवी को हम प्रणाम करते हैं, हे देवि ! आप समस्त जगत का पालन कीजिए !

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि ।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणी का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदाऽऽर्द्रचित्ता ।।

– हे माँ दुर्गे ! आपके स्मरण से आप सभी प्राणियों के भय को हर लेती हैं, स्वस्थ व्यक्तियों द्वारा स्मरण करने पर उन्हें मंगलमयी, परम कल्याणमयी बुद्धि प्रदान करती हैं, हे दुख-दरिद्रता-भयहारिणी देवी ! आपके बिना कौन है, जो संसार के सभी प्राणियों के उपकार करने को सदा दयार्द्र रहता हो !

पुरखों की थाती

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।४७१।।

– जिस चम्मच से अग्नि में आहुति दी जाती है, वह ब्रह्म है । जिन (घी आदि) पदार्थों की आहुति दी जाती है, वे भी ब्रह्म हैं। जिस अग्नि में आहुति दी जाती, वह भी ब्रह्म है। आहुति देने वाला भी ब्रह्म है। उस ब्रह्मरूपी कर्म में समाधि को प्राप्त योगी को मिलने वाला फल भी ब्रह्म ही है ।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्र-कामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्त-सुखाय च ।।४७२

– ब्राह्मण का शरीर तुच्छ कामनाओं की पूर्ति के लिये नहीं होता, बल्कि वह तो इस लोक में घोर तप करके देहत्याग के बाद अनन्त आनन्द की प्राप्ति का हेतु है।

भवेत्स्व-पर-राष्ट्राणां कार्याऽकार्याऽवलोकने ।
चारश्चक्षुर्महीभर्त्तुर्यस्य नास्त्यन्ध एव सः ।।४७३।।

– अपने और दूसरे राष्ट्रों के भले तथा बुरे कार्यों का निरीक्षण करने के लिए राजा के पास गुप्तचर-रूपी नेत्र अवश्य होने चाहिए। जिस राजा के पास गुप्तचर नहीं होते, वह अन्धे के समान ही है।

भवेऽस्मिन् पवनोद्भ्रान्त-वीचि-विभ्रम-भङ्गुरे ।
जायते पुण्ययोगेन पराऽर्थे जीवितव्ययः ।।४७४।।

– वायु के झोंकों से उठनेवाली चंचल तरंगों की भाँति क्षण भर में ही नाश हो जानेवाले इस संसार में बड़े भाग्य से ही दूसरों के हित में प्राणत्याग का अवसर मिलता है।

माँ दुर्गा के भजन

जय दुर्गे !

स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती

जय दुर्गे दुर्गतिपरिहारिणी, शुम्भविदारिणी मात भवानी ।
आदिशक्ति परब्रह्मस्वरूपिणी जगज्जननी चहुँवेद बखानी ।
ब्रह्मा शिव हरि अर्चन कीन्हों, ध्यान धरत सुर नर मुनि ज्ञानी ।
अष्टभुजा कर खड्ग विराजे, सिंह सवार सकल वरदानी ।
ब्रह्मानन्द चरण में आए भवभयनाश करो महरानी ।

मन चल माँ के चरणन में

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

मन चल माँ के चरणन में ।
मिले दिव्य शक्ति तन-मन में ।।

जग से क्लान्त शान्ति की इच्छा,
दुखनिवृत्ति मिले गोद की भिक्षा ।
भवबन्धन सभी हैं झूठे,
क्यों बँधे इस बन्धन में ।। चल..

माँ ही सब कुछ हैं इस जग में,
तब रोना क्यों दुर्गम मग में ।।
माया भ्रान्ति-तम का सागर,
क्यों पड़े इस सपनन में ।। चल..

अनन्त सुख-शान्ति का आँचल,
ओढ़ ले जाके ऐ चित्त घायल ।
नित्य लहरे माँ स्नेह की चुनरी,
ले लपेट तन-मन में ।। चल..

इस विवेक की शिखा जलाना
माँ को छोड़ कहाँ क्यों जाना?
माँ को छोड़ पुत्र कहाँ जाए,
गोद या चरणन में ।।

संताप सारा माँ तू हर ले

कुन्दन कुमार, मुंगेर, बिहार

संस्कृति के सम्मान का
उद्गार मन में माँ तू भर दे !
सभ्यता के विकार का
संताप सारा माँ तू हर ले !!

कलुष भावों का शमन हो,
अन्तस्तल सबका सबल हो,
भेदभाव सब लोग भूलें,
प्यार के दो बोल बोलें,
विष घृणा का ना घुले अब,
उद्गार वृत्ति विचार भर दे !!

कर्म-अकर्म का मोह छूटे,
संसार में समभाव फूटे,
प्रतिभा की फैले प्रभाती,
उन्मत्त मन के छूटे साथी,
शाम की शहनाइयों में,
कल्याण दीपक राग भर दे !!

काम-क्रोध-मद-लोभ-तृष्णा,
कर रहा जग विकट रचना,
कार्य ऐसा नर करे जग,
रह न जाए ऐसी रचना,
शिव तत्त्व विश्व में रमे अब,
आवरण संन्यास कर दे !!

संस्कृति के सम्मान का
उद्गार मन में माँ तू भर दे !
सभ्यता के विकार का
संताप सारा माँ तू हर ले !!

मानव-सेवा साधना के मनीषी

प्रिय पाठको, सर्वप्रथम मैं अपने सभी पाठकों, लेखकों और शुभचिन्तकों को माँ जगदम्बा के पावन नवरात्रि में शक्तिमयी माँ की उपासना हेतु सत्प्रेरणा एवं विजयादशमी की सबको हार्दिक शुभकामनाएँ देता हूँ। स्नेहमयी भगवती माँ दुर्गा संसार के समस्त प्राणियों का कल्याण करें और अपनी अहैतुकी स्नेह-सरिता में अवगाहन कराकर हम सबको प्रेम, त्याग, ज्ञान, भक्ति, सद्भावना प्रदान करें और सबकी सेवा की शुभाकांक्षा और सुअवसर प्रदान करें।

इस वर्ष श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य और स्वामी विवेकानन्द जी के प्रिय गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द जी की १५०वीं जयन्ती है। इस उपलक्ष्य में 'मानव-सेवा अंक' के प्रकाशन का संकल्प उदित हुआ। समय अत्यल्प, मात्र एक महीना था। इस अल्पावधि में पत्राचार कर लेख आमंत्रित कर समय पर अंक प्रकाशित करना सम्भव नहीं था। अत: पूर्व उपलब्ध सामग्रियों पर ही अंक प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। यदि इस अंक को पढ़ने से किसी एक व्यक्ति के जीवन में कभी भी मानव-सेवा की भावना जाग्रत होती है और अपने अत्यल्प साधनों से किसी की सेवा करने को उद्यत होता है, तो यह संकल्प सिद्ध होगा।

मानव-सेवा अंक ही क्यों?

विश्व के इतिहास में भारत का अपना एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। विश्व की सबसे प्राचीन संस्कृति भारत वर्ष की है, जो समस्त संसार के प्राणियों की सुख-शान्ति और मंगल की हार्दिक कामना करती है। जब बहुत से देश आदिमानव जैसे जीवन यापन कर रहते थे, कुछ देशों का अस्तित्व भी नहीं था, तब भारतीय ऋषि मानवीय और दैवीय गुणों से समलंकृत होते हुए भी इसके भी अतीत जाकर इन्द्रियातीत विराट परमात्मा का अनुसंधान कर रहे थे। इसी दिव्य जीवन के अन्वेषण काल में या लक्ष्य उपलब्धि के आनन्दातिरेक में किसी महान मनीषी ने परमेश्वर से प्रार्थना की होगी –

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

कितनी सुन्दर प्रार्थना है ! इससे उस महामानव के नि:स्वार्थ विशाल हृदय की झलक मिलती है, जो समस्त प्राणियों के सुखी, निरोगी, मंगलमय जीवन की याचना करता है। ऐसी महान संस्कृति भारत की प्राचीन काल से है।

भारत के बहुत बाद अस्तित्व में या विकसित होने वाले देश आधुनिक सुख-सुविधा के उपकरणों से सुसज्जित हैं और महाशक्ति के रूप में विख्यात हैं। लेकिन 'सोने की चिड़िया' कहलाने वाले सर्वसम्पन्न देश में आज भी लोग भूखे सोते हैं। भूख और गरीबी से आत्महत्याएँ करते हैं। भविष्य के अंधकार से युवक-युवतियाँ कुंठित होकर जीवन गँवा देते हैं। अपनी सन्तानों के घोर स्वार्थी और संवेदनाशून्य होने के कारण वृद्ध लोग अपने ही परिवार से उपेक्षित होकर वृद्धाश्रम में रहते हैं। माता-पिता की विसंगतियों के कारण बच्चे अनाथालय में रहते हैं। सामान्य मानव उपेक्षित है। वैश्विक-परिवार की घोषणा करने वाले देश में एक ही घर में साथ रहने वाले लोग परस्पर मुखावलोकन नहीं करते। एक ही साथ बैठे हुए एक ही परिवार के यात्री मानसिक आघात पाकर सीधे बात न कर एसएमएस से बातें करते हैं, आदि। इन सबके मूल में कहीं-न-कहीं मानवात्मा उपेक्षित और उत्पीड़ित है। प्राय: लूट-पाट, चोरी, घोटाले, हत्याएँ, भ्रष्टाचार कदाचार ये सभी बीभत्स कार्य-कलाप मानव को कष्ट पहुँचाते हैं, जो भारत जैसे महान संस्कृतिपरक देश के लिये अत्यन्त अनुचित है। प्राय: अखबारों और दूरदर्शन से ऐसी सूचनाओं को पढ़ने के बाद मुझे लगा कि विवेक-ज्योति के माध्यम से एक बार पुन: विश्व को मानव-सेवा की महिमा से अवगत कराया जाय। इसलिये मानव-सेवा के अग्रदूत श्रीरामकृष्ण के शिष्य और स्वामी विवेकानन्द जी के प्रिय गुरु भ्राता स्वामी अखण्डानन्द जी की स्मृति में 'मानव-सेवा अंक' का प्रकाशन किया जा रहा है। स्वामी विवेकानन्द जी के प्रिय होने के कई कारणों में से प्रसंगानुरूप केवल एक कारण का उल्लेख करता हूँ।

स्वामी विवेकानन्द जी के प्रिय क्यों?

स्वामी विवेकानन्द जी के प्रिय स्वामी अखण्डानन्द जी इसलिये हैं कि भगवान श्रीरामकृष्ण देव द्वारा उद्घोषित 'शिवभाव से जीवसेवा' के महामन्त्र को स्वामी विवेकानन्द जी ने सम्पूर्ण विश्व में 'नर-नारायण सेवा', 'मानव-सेवा माधव-सेवा' के रूप में प्रचार किया। उनके महामन्त्र का क्रियान्वयन सर्वप्रथम स्वामी अखण्डानन्द जी ने किया। इसलिए स्वामीजी उन्हें बहुत प्रेम करते थे। स्वामीजी ने उन्हें बहुत ही उत्साहवर्धक और प्रेरक पत्र भी लिखें हैं।

संवेदना से सेवा का सूत्रपात – 'माँ बहुत मारेगी'

परिव्राजक संन्यासी स्वामी अखण्डानन्द जी प्रव्रजन में

निकले थे। चैतन्य महाप्रभु की लीलास्थली, पश्चिम बंगाल के नवद्वीप केशव भारती का कुटीर, कटवा, गोपीनाथ जी का मेला अग्रद्वीप आदि स्थानों के ऐतिहासिक आध्यात्मिक परिवेश की आनन्दनुभूति करते हुए मुर्शिदाबाद की ऐतिहासिक भूमि को देखने हेतु उस मार्ग पर चल पड़े। पथ पर चलते-चलते उन्हें दुर्बल दुर्दशाग्रस्त बालकों से उस क्षेत्र में आए अकाल की सूचना मिली। फिर भी यतिश्रेष्ठ मन में अकाल पीड़ित दुखभार को लेकर मार्ग पर अग्रसर हो रहे थे।

पलासी से आगे दाऊदपुर में एक दिन सुबह जब वे बाजार की ओर जा रहे थे, तभी उन्होंने एक दुबली-सी मुसलमान की बच्ची को बहुत रोते हुए देखा। उन्होंने उस बालिका से पूछा – "क्यों रो रही हो बेटी?" उसने कहा – "बाबा ! अकाल के कारण हमें भोजन नहीं मिलता। उस पर भी घर में केवल पानी ले जाने के लिए केवल एक ही घड़ा था, वह आज गिर कर टूट गया। अब घर में पानी ले जाने के लिए दूसरा कोई बर्तन नहीं है। घर जाने पर माँ मुझे बहुत मारेगी, इसलिए रो रही हूँ।" कैसी मार्मिक घटना है ! संन्यासी के हृदय को बच्ची के करुण स्वर ने विदीर्ण कर दिया। उन्होंने उसे बाजार से एक घड़ा और दो पैसे का चिउड़ा खरीद कर दे दिया। वह प्रसन्न होकर चली गई। अभी बाबा वहीं थे, तभी भूख से पीड़ित १२-१४ बच्चे आकर 'बाबा खाने को दो ' कहने लगे। तब बाबा ने अपने पास बचे शेष १२ पैसों का चिउड़ा खरीद कर बाँट दिया और उनके दूख दूर करने के बारे में सोचने लगे। रामकृष्ण मिशन का यही सेवा-बीज कालान्तर में विशाल वृक्ष के रूप परिणत होता है। उस दिन बाबा आगे नहीं जा सके। उन्होंने उसी गाँव में रात्रि-विश्राम किया।" (स्वामी अखण्डानन्द, पृष्ठ-११३)

माँ ! मैं तुम्हारा इसी जन्म का पुत्र हूँ

उस दाउदपुर गाँव की ही दूसरी घटना है। जब दूसरे दिन प्रात: उस गाँव से स्वामी अखण्डानन्दजी प्रस्थान कर रहे थे, तभी एक महिला ने आकर कहा कि एक नब्बे वर्ष की वृद्धा मरणासन्न हैं और उनकी देखभाल करनेवाला कोई नहीं है, आपको उसकी व्यवस्था करनी होगी। स्वामी अखण्डानन्द जी ने जब जाकर उस वृद्धा की झोपड़ी में देखा, तो वे मल-मूत्र से लिपटी पड़ी थीं और दुर्गन्ध के कारण अन्दर जाना कठिन था। अखण्डानन्दजी ने उनकी सेवा की व्यवस्था की । वृद्धा धीरे-धीरे स्वस्थ होकर भोजन करने लगीं। जब अखण्डानन्द जी स्वयं अपने हाथों से उन्हें झोल-भात खिला रहे थे, तो आनन्द से वृद्धा की आँखों से आँसू प्रवाहित होने लगे। भोजन करते-करते वे कहने लगीं – "बेटा तुम मेरे जन्म-जन्मान्तर के पुत्र हो।" सेवा में संलग्न संन्यासी ने कहा – "नहीं माँ, मैं तुम्हारे इसी जन्म का पुत्र हूँ।" ऐसी मार्मिक हृदय विदारक घटनाएँ रामकृष्ण मिशन की वर्तमान सेवा-अट्टालिका की नींव हैं। रामकृष्ण संघ में दृष्टिगोचर होनेवाले विशाल सेवा-वटवृक्ष के बीज हैं ऐसी मानवीय दुखों की असह्य पीड़ा !

नर में नारायण की अनुभूति

यह स्वामी अखण्डानन्द जी ही थे, जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द के 'नर की नारायण रूप में सेवा' के आदर्श को अपने आचरण में पहले करके दिखाया। एक बड़ी अच्छी घटना है, जिसका उल्लेख यहाँ प्रासंगिक होगा। कालान्तर में महुला में अनाथाश्रम की स्थापना के बाद दीन-दुखी, भूखे-नंगे बालकों को स्वामी अखण्डानन्द जी रास्ते से स्नेहपूर्वक आश्रम में ले आते। उनके शरीर का धूल झाड़कर, तेल लगाकर साबुन तथा गरम पानी से स्नान कराते हुए गम्भीर स्वर में नारायण के स्नान-मंत्र 'पुरुष सूक्त' का उच्चारण करते –

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।।

मनुष्य में ईश्वर की अनुभूति करते हुए उसे ईश्वर रूप में सेवा करने का यह महत्वपूर्ण दृष्टान्त है।

सेवाभावी मनीषी की याचना

मानवीय-पीड़ा से व्यथित होकर ही किसी ने 'मुक्ति' का भी त्यागकर प्रार्थना की –

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम् ।।

– हे प्रभो ! मैं राज्य, स्वर्ग और मुक्ति नहीं चाहता। मैं दुखार्त्त प्राणियों की सेवा करना चाहता हूँ। व्यासजी ने अपने सर्वपुराणसार के रूप में '**परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्**' का आदर्श स्थापित किया। गोस्वामी तुलसीदास जी ने धर्म-अधर्म की परिभाषा देते हुए कहा –

परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।
परपीड़ा सम नाहिं अधमाई ।।

महात्मा बुद्ध ने 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' का उद्घोष किया और भगवान शंकराचार्य जी ने '**भूतदया विस्तारय तारय संसार सागरतः**' का संदेश दिया।

आत्म कल्याण हेतु परोपकार

एक बार १९९० में दिल्ली के भारतीयम् ग्राम में दक्षिण एशियाई युवा शिविर चल रहा था। शिविर के निर्देशक डॉ. एस. एन. सुब्बाराव ने शिविरार्थियों से पूछा – "हम दूसरों की सेवा क्यों करते हैं?" कुछ लोगों ने शास्त्रों और अन्य कई उद्धरण देकर पुण्यप्राप्ति और सेवा-महिमा को बताया। अन्त में भाई जी ने कहा कि सेवा करने से सर्वप्रथम हमारा ही कल्याण होता है। अपना कल्याण तो सभी चाहते हैं। अत: आत्मकल्याण हेतु भी परोपकार करना आवश्यक है। किसी ने कहा है कि परोपकारी के संकट नष्ट हो जाते हैं और पग-पग पर मंगल होता है –

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम्।
नश्यन्ति विपदः तेषां सम्पदस्तु पदे पदे ।।

इससे भी बड़ी बात है सेवावृत्ति। जिस प्रकार अभ्यस्त सत्कर्म को किए बिना शान्ति नहीं मिलती, जैसे नित्य जप, ध्यान, उपासना, अर्चना के समान सेवा करने के अभ्यस्त साधक उसे पूर्ण किये बिना प्रत्यवाय का अनुभव करते हैं, वैसे ही सेवक को सेवा किए बिना शान्ति नहीं मिलती है। वाराणसी में डॉ. जगन्नाथ त्रिपाठी जी थे। वे नित्य १-२ अतिथि को बिना खिलाये भोजन ही नहीं करते थे। एक दिन कोई आया ही नहीं, वे भोजन ही नहीं कर रहे थे। किसी तरह समागत अतिथि के साथ भोजन किए। ऐसी हमारी सेवा-साधना हो, जो हमारे जीवन का अंग बन जाय।

सेवक सेव्य की संवेदना व आवश्यकता को समझे

गत महीने मैं नागपुर में था, वहाँ एक 'स्नेहांचल' नामक संस्था है, उसमें श्रीमती शीतला मुंदड़ा, जो स्वयं बहुत बड़ी फिजियोथेरेपी सेन्टर चलाती हैं, वे वहाँ भी अपनी सेवाएँ देती हैं। वे मुझे लेकर दिखाने वहाँ गयीं।

वहाँ कैन्सर के रोगियों की शान्ति से मरने के लिए नि:शुल्क बड़ी अच्छी सेवाएँ की जाती है। रोगी की अन्तिम इच्छानुसार उसे बनाकर खिलाते हैं। स्नेहांचल सचमुच ही माँ का वात्सल्याचल ही है। आज भी रामकृष्ण मिशन के शिक्षा, स्वास्थ्य, राहत कार्य आदि के द्वारा और अन्यान्य समाजसेवी संस्थाओं के द्वारा निष्ठापूर्वक सेवा-कार्य चल रहा है।

सेवा साधना और साध्य भी

बहुत से ऐसे उपकरण हैं, जिनका कार्य हो जाने के बाद अनवाश्यक समझकर फेंक दिया जाता है। श्रीरामकृष्ण देव कहते थे काँटे से काँटा निकालकर दोनों को फेंक दिया जाता है। साधनाओं में बहुत प्रारम्भिक साधनाएँ अत्युच्च स्तर के साधकों के लिए आवश्यक नहीं प्रतीत होतीं। किन्तु मानव-सेवा ऐसी साधना है, जो कभी अनावश्यक नहीं होती, बल्कि सेवा करते-करते नर में ईश्वरानुभूति हो जाने से और निष्ठा से सेवा बढ़ जाती है।

अत: सेवा सर्वोत्कृष्ट साधना है, परम तप है, नर-नारायण के तादाम्यानुभूति का साधन-योग है। मानव में अन्त:स्थ ईश्वर के प्राकट्य का माध्यम है। सेवा मानव-जीवन का आदर्श और मानव और अन्य प्राणियों में भी परस्पर सौहार्द-प्रेम, शान्ति स्थापित करने की एक विशेष शृंखला है। सेवा केवल परोपकार, दूसरों पर दया, ऋषियों की आज्ञा, शास्त्रादेश और ऋणमुक्ति का उपकरण नहीं है, अपितु भारतीय संस्कृति का सर्वोच्च आदर्श और मानव-जीवन की सर्वोत्कृष्ट साधना है। पवहारी बाबा के अनुसार 'जवन साधन, तवन सिद्धि' अर्थात् जो साधन है, वही सिद्धि है, वैसे ही सेवा साधना और साध्य दोनों है।

सेवा कैसे करें ?

संसार के किसी भी सदाचरण और सत्कर्म से, मानव को सुख-शान्ति मिले, वह कार्य किया जा सकता है। यदि ईश्वर ने स्वस्थ शरीर, नैतिकार्जित धन और सुन्दर मनोभाव दिए हैं, तो क्षमतानुसार सेवा करें। यदि इन सबका अभाव हो, तो दूसरे सेवाभावी साधकों के साथ जुड़कर अपनी सेवाएँ दें, यदि यह सम्भव न हो तो, केवल दूसरे के हित लिए भगवान से प्रार्थना करें। सच्चे मन से की गई प्रार्थना ईश्वर अवश्य सुनते हैं। सेवा के लिए पहले किसी भी धन की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है, सद्विचार, दृढ़ निष्ठा और क्षमतानुसार समर्पण हेतु तत्परता की। इतना रहने पर शेष वस्तुएँ स्वयं आ जाती हैं। अपने सभी नित्य कर्त्तव्य कर्मों को प्रार्थना से उत्कृष्ट साधना बना सकते हैं, जैसे नागपुर में डॉ. शीतल मुंदड़ा के फिजियोथिरेपी सेन्टर में शाम को जाते समय सभी स्टाफ प्रार्थना करते हैं – "**हे ईश्वर ! मुझे स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और शुद्ध बुद्धि दीजिए, जिससे आपकी और आपकी सन्तानों की ठीक से सेवा कर सकूँ। मैं प्रत्येक प्राणी में आपको ही देख सकूँ, ऐसी शक्ति प्रदान कीजिए। मुझमें सेवा, समर्पण और सद्भावना हो। मेरे मन में सबके प्रति सत्प्रेम हो। मैं सहनशील बनूँ और सब को क्षमा करूँ, ऐसी शक्ति प्रदान कीजिए। हे प्रभु ! मैं सभी कार्य आपकी पूजा समझूँ और उसे तन-मन-वाणी से निष्ठापूर्वक करूँ।**" सेवा-क्षण में हम निरहंकारी, विनयी और ईश्वर से संयुक्त रहें, इन्हीं प्रार्थनाओं के साथ लेखनी को विराम ! OOO

जीवन्त ईश्वर की पूजा

स्वामी विवेकानन्द

समस्त उपासनाओं का यही सार है कि व्यक्ति पवित्र रहे और सदैव दूसरों का भला करे। वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है, वही सचमुच शिव की उपासना करता है, पर यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है, तो उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। यदि किसी मनुष्य ने किसी एक निर्धन मनुष्य की सेवा-शुश्रूषा बिना जाति-पाँति अथवा ऊँच-नीच के भेद-भाव के, यह विचार कर की है कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान है, तो शिव उस मनुष्य से उस दूसरे मनुष्य की अपेक्षा अधिक प्रसन्न होंगे, जो कि उन्हें केवल मन्दिर में ही देखता है।

प्रत्येक नर-नारी सबको ईश्वर के ही समान देखो। तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, तुम्हें केवल प्रभु के सन्तानों की सेवा करने का ही अधिकार है, यदि भाग्यवान हो तो, स्वयं प्रभु की ही सेवा करो। ईश्वर के अनुग्रह से यदि तुम उसकी किसी सन्तान की सेवा कर सके, तो धन्य हो जाओगे। अपने को बहुत बड़ा मत समझो। तुम धन्य हो, क्योंकि सेवा करने का अधिकार तुमको मिला, दूसरों को नहीं। केवल पूजा के भाव से सेवा करो। हमें निर्धनों में ईश्वर को देखना चाहिए, अपनी ही मुक्ति के लिए उनके निकट जाकर हमें उनकी पूजा करनी चाहिए। निर्धन तथा दुखी लोग हमारी मुक्ति के साधन हैं, ताकि हम रोगी, पागल, कोढ़ी, पापी आदि स्वरूपों में विचरण करते हुए प्रभु की सेवा करके अपना उद्धार कर सकें।

एक धनी व्यक्ति का एक बगीचा था जिसमें दो माली काम करते थे। एक माली बड़ा आलसी और कमजोर था, परन्तु जब कभी वह अपने मालिक को आते देखता, तो झट से उठकर खड़ा हो जाता और हाथ जोड़कर कहता, 'मेरे स्वामी का मुख कितना सुन्दर है !' और उनके सम्मुख नाचने लगता। दूसरा माली अधिक बातचीत नहीं करता था, उसे तो बस अपने काम से काम था। वह बड़े परिश्रम से बगीचे से विभिन्न प्रकार के फल-सब्जियाँ पैदा करके, उन्हें स्वयं अपने सिर पर रखकर, बहुत दूर मालिक के घर पहुँचा आता था। अब इन दो मालियों में से मालिक किसको अधिक चाहेगा? ठीक इसी प्रकार यह संसार एक बगीचा है, जिसके मालिक शिव हैं। यहाँ भी दो प्रकार के माली हैं – एक तो वह जो आलसी, अकर्मण्य तथा ढोंगी है और कभी-कभी शिव के सुन्दर नेत्र, नासिका तथा अन्य अंगों की प्रशंसा करता रहता है, और दूसरा ऐसा है जो शिव की सन्तान की, समस्त दीन-दुखी प्राणियों की और उनकी सारे सृष्टि की चिन्ता करता है। इन दो प्रकार के लोगों में से कौन शिव को अधिक प्रिय होगा? निश्चय ही, वही जो उनकी सन्तान की सेवा करता है। जो व्यक्ति अपने पिता की सेवा करना चाहता है, उसे सबसे पहले अपने भाइयों की सेवा करनी चाहिए, उसी प्रकार जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे पहले उनकी सन्तान की, विश्व के प्राणी-मात्र की सेवा करनी चाहिए। शास्त्रों में कहा भी गया है कि जो भगवान के सेवकों की सेवा करता है, वही उनका सर्वश्रेष्ठ सेवक है। यह बात सर्वदा ध्यान में रखनी चाहिए। मैं फिर कहता हूँ कि तुम्हें स्वयं शुद्ध रहना चाहिए तथा यदि कोई तुम्हारे पास सहायतार्थ आए, तो जितना तुमसे बन सके, उतनी उसकी सेवा अवश्य करनी चाहिए। यही सर्वश्रेष्ठ धर्म कहलाता है। इसी श्रेष्ठ कर्म की शक्ति से तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जाएगा और फिर शिव, जो प्रत्येक हृदय में निवास करते हैं, प्रकट हो जाएँगे। ...परन्तु इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य स्वार्थी है, तो चाहे उसने संसार के सब मन्दिरों के ही दर्शन क्यों न किए हो, चाहे वह सारे तीर्थों में क्यों न गया हो और चाहे रंग-भभूत रमाकर अपना रूप चीते-जैसा क्यों न बना लिया हो, वह शिव से दूर है – बहुत दूर है।

तुम्हीं ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ मन्दिर हो। मैं किसी मन्दिर, किसी प्रतिमा या किसी बाइबिल की उपासना न करके तुम्हारी ही उपासना करूँगा। कुछ लोग इतना परस्पर-विरोधी विचार क्यों रखते हैं? ...लोग कहते हैं, हम ठेठ प्रत्यक्षवादी हैं, ठीक है, परन्तु तुम्हारी उपासना करने की अपेक्षा और अधिक प्रत्यक्ष क्या हो सकता है? मैं तुम्हें देख रहा हूँ, तुम्हारा अनुभव कर रहा हूँ और जानता हूँ कि तुम ईश्वर हो। ...मनुष्य-देह में स्थित मानव-आत्मा ही एकमात्र उपास्य ईश्वर है। वैसे पशु भी भगवान के मन्दिर हैं, पर मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है – ताजमहल जैसा। यदि मैं उसकी उपासना नहीं कर सका, तो अन्य किसी मन्दिर से कुछ भी उपकार नहीं होगा। जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य-देह रूपी मन्दिर में विराजित ईश्वर की उपलब्धि कर

सकूँगा, जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख भक्तिभाव से खड़ा हो सकूँगा और वास्तव में उसमें ईश्वर को देख सकूँगा, जिस क्षण मेरे अन्दर यह भाव आ जाएगा, उसी क्षण मैं सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाऊँगा।

दूसरा प्रश्न यह है कि आत्मा या ईश्वर की प्राप्ति के बाद क्या होता है? ...धर्म की इस प्रत्यक्षानुभूति से जगत का पूरा उपकार होता है। लोगों को भय होता है कि जब वे यह अवस्था प्राप्त कर लेंगे, जब उन्हें ज्ञान हो जाएगा कि सभी एक हैं, तब उनके प्रेम का स्रोत सूख जाएगा, जीवन में जो कुछ मूल्यवान है, वह सब चला जाएगा, इस जीवन में और पर-जीवन में जो कुछ उन्हें प्रिय था, उसमें से कुछ भी न बचा रहेगा। किन्तु लोग एक बार भी यह सोचकर नहीं देखते कि जो लोग अपने सुख की चिन्ता छोड़ दिए हैं, वे ही जगत में सर्वश्रेष्ठ सेवक हुए हैं। मनुष्य तभी वास्तव में प्रेम करता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र कोई क्षुद्र मर्त्य जीव नहीं है। मनुष्य तभी वास्तविक प्रेम कर सकता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र एक मिट्टी का ढेला नहीं, अपितु स्वयं साक्षात् भगवान हैं। स्त्री यदि यह समझे कि उसके पति साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप हैं, तो उनसे और भी अधिक प्रेम करेगी। पति भी यदि यह जाने कि स्त्री स्वयं ब्रह्म-स्वरूप है, तो वह भी स्त्री से अधिक प्रेम करेगा। सन्तान को ब्रह्म-स्वरूप देखने वाली माताएँ अपनी सन्तान से अधिक स्नेह कर सकेंगी। जो लोग यह जानेंगे कि उनके शत्रु साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप हैं, तो वे लोग अपने महान शत्रुओं के प्रति भी प्रेम-भाव रख सकेंगे। जो लोग यह समझेंगे कि सज्जन व्यक्ति साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप हैं, वे लोग पवित्र लोगों से प्रेम करेंगे। जो लोग यह जान लेंगे कि इन महादुष्टों के भी पीछे वे प्रभु ही विराजमान हैं, तो वे अत्यन्त अपवित्र व्यक्तियों से भी प्रेम करेंगे । जिनका क्षुद्र अहं पूर्णतः मर चुका है और उसके स्थान पर ईश्वर ने अधिकार जमा लिया है, वे लोग ही जगत के प्रेरक हो सकते हैं। उनके लिये समग्र विश्व दिव्य भाव से रूपान्तरित हो जाता है। जो कुछ भी दुखकर या क्लेशकर है, वह सब उनकी दृष्टि से लुप्त हो जाता है, सभी प्रकार के द्वन्द्व और संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। तब यह जगत, जहाँ हम प्रतिदिन रोटी के एक टुकड़े के लिये झगड़ा और मारपीट करते हैं, उनके लिए कारागार होने के बदले एक क्रीड़ाक्षेत्र बन जाता है। तब जगत बड़ा सुन्दर रूप धारण कर लेता है। ऐसे ही व्यक्ति को यह कहने का अधिकार है कि 'यह जगत कितना सुन्दर है !' उन्हीं को यह कहने का अधिकार है कि सब मंगल-स्वरूप है !

धर्म की इस प्रत्यक्ष उपलब्धि से जगत का यह महान हित होगा कि ये अविराम विवाद, द्वन्द्व आदि सब दूर हो जाएँगे और जगत में शान्ति का राज्य हो जाएगा। यदि जगत के सभी लोग आज इस महान सत्य के एक बिन्दु की भी उपलब्धि कर सकें, तो उनके लिए यह सारा जगत एक दूसरा ही रूप धारण कर लेगा और यह सब झगड़ा समाप्त होकर शान्ति का राज्य आ जाएगा। यह घिनौना उतावलापन, यह स्पर्धा – जो हमें अन्य व्यक्तियों को ठेलकर आगे बढ़ निकलने के लिये बाध्य करती है, इस संसार से उठ जाएगी। इसके साथ-साथ सब प्रकार की अशान्ति, घृणा, ईर्ष्या तथा सभी प्रकार की बुराइयाँ सदा के लिए चली जाएँगी। तब इस जगत में देवता निवास करेंगे। तब यही जगत स्वर्ग हो जाएगा। जब देवता देवता से खेलेगा, देवता देवता से मिलकर कार्य करेगा, देवता देवता से प्रेम करेगा, तब क्या इसमें बुराई रुक सकती है? ईश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि की यही एक बड़ी उपयोगिता है। समाज में तुम जो कुछ भी देख रहे हो, वह सब उस समय परिवर्तित होकर एक दिव्य रूप धारण कर लेगा। तब तुम किसी मनुष्य को बुरा नहीं समझोगे। यही प्रथम महालाभ है, उस समय तुम लोग किसी अन्याय करनेवाले बेचारे नर-नारी की ओर घृणापूर्ण दृष्टि से नहीं देखोगे। ...तब तुममें ईर्ष्या अथवा दूसरों पर शासन करने का भाव नहीं रहेगा, वह सब चला जाएगा। तब प्रेम इतना प्रबल हो जाएगा कि फिर मानव-जाति को सत्पथ पर चलने के लिए चाबुक की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

मैंने इतनी तपस्या करके यह सार समझा है कि हर जीव में वे ही विराजमान हैं, इसके सिवा ईश्वर और कुछ भी नहीं। जीवों पर दया करनेवाला ही ईश्वर की सेवा कर रहा है।''

बहु रूपों में खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ हैं ईश?
व्यर्थ खोज यह, जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।

तुमने पढ़ा है – मातृदेवो भव, पितृदेवो भव – 'अपनी माता को ईश्वर समझो, अपने पिता को ईश्वर समझो', परन्तु मैं कहता हूँ – दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव – गरीब निरक्षर, मूर्ख और दुखी, इन्हें अपना ईश्वर मानो। इनकी सेवा करना ही परम धर्म समझो। ○○○

मानवरूपी ईश्वर की सेवा

स्वामी वीरेश्वरानन्द

मैं आप लोगों के समक्ष श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों द्वारा प्रतिपादित सेवा का आदर्श रखूँगा ।

श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों के आधार पर स्वामी विवेकानन्द जी ने 'जीव-ही-शिव है' का आदर्श दिया और यही आदर्श हमारे सभी कार्यों के मूल में है। स्वामीजी ने हमें मानव में ईश्वर की सेवा करने की आज्ञा दी है। यदि हम मानवतारूपी ईश्वर की सेवा करें, तो इससे हमें मन्दिर में पूजा करने के समान ही आध्यात्मिक प्रगति में सहायता मिलेगी। मन्दिर में हम पत्थर की मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा कर विविध पदार्थों से उसकी पूजा करते हैं, किन्तु इस पूजा में प्राण-प्रतिष्ठा की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मानव-मूर्ति में तो प्राण प्रतिष्ठित है ही। अत: यदि हम इस तथ्य की ओर ध्यान दें और मानव की सेवा करें, तो वह मन्दिर में पूजा करने से किसी मायने में कम नहीं होगा। हाँ, पूजा के उपकरण भिन्न प्रकार के होंगे। मन्दिर में हम पुष्प-धूप आदि निवेदन करते हैं, जबकि इस पूजा में औषधि, भोजन आदि । किन्तु दोनों के पीछे भाव एक ही है। इसलिए स्वामीजी ने हमें मानवता में निहित ईश्वर-तत्त्व को देखने और सेवा करने का निर्देश दिया है, क्योंकि इससे हमारी आध्यात्मिक उन्नति में तो सहायता मिलती ही है, साथ ही चिकित्सा, शिक्षा और सामाजिक क्षेत्रों में विविध प्रकार के सत्कार्यों द्वारा समाज की भी सेवा होती है। अत: उन महान आदर्शों को आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहिए। इस संस्था के कार्यकर्ताओं का ध्यान मैं इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि उन्हें इस आदर्श के पालन में तनिक भी अतिरिक्त समय, शान्ति या धन का व्यय नहीं करना होगा। केवल उन्हें इतना ही करना होगा कि कर्म करते समय अपना मानसिक दृष्टिकोण बदल लेना होगा और रोगी की सेवा करते समय उसके अन्दर ईश्वरतत्त्व और देवत्व देखना होगा। इससे उन्हें अपनी आध्यात्मिक उन्नति में भी सहायता मिलेगी। किसी भी युग में ईश्वरप्राप्ति का पथ इतना आसान नहीं हुआ था। स्वामीजी के इस नए आदर्श के अनुसार अब हमें वन में जाकर ध्यान में बैठने की अथवा पूजा आदि करने की आवश्यकता नहीं है। रोगियों की सेवा करते समय हमें अपना दृष्टिकोण बदल लेना होगा। इससे हमारा कार्य बड़ा सरल हो जाता है। इतना ही नहीं, वह हमें एक वर्ग-निरपेक्ष समाज जिसके लिये आजकल प्रयास चल रहा है, की शुरुआत करने में भी सहायता होगी। क्योंकि यदि हम प्रत्येक मनुष्य में उसी ईश्वर को देखें, तो इस जगत में हम जिन विषमताओं को देखने के अभ्यस्त हैं, वे लुप्त हो जाएँगे, केवल मानवता रह जाएगी, जिसके द्वारा शाश्वत आत्मा स्पन्दित हो रही है। इस प्रकार बिना अधिक कष्टसाध्य परिश्रम के समाज में वर्ग-निरपेक्षता लाई जा सकती है। इस नए आदर्श को लाने में किसी लड़ाई-झगड़े या संघर्ष की भी आवश्यकता नहीं है। फिर स्वामीजी द्वारा प्रचारित इस नए आदर्श में एक बड़ा लाभ है।

आज धनिकों का यह कर्तव्य है कि वे गरीबों और उनकी उन्नति के लिए कार्य करें। जैसे मानव शरीर में रक्त का संचार होता है, वैसे ही समाज या राष्ट्र के शरीर में सम्पत्ति का संचार होना चाहिए। रक्त-संचरण यदि शरीर के किसी अंग में नहीं हो, तो वह अंग शिथिल होकर उस मनुष्य के जीवन को खतरे में डाल देगा। इसी प्रकार यदि समाज या राष्ट्र के किसी अंग में धन का संचार नहीं होता है, तो वह अंग शिथिल होकर अन्त में उस पूरे समाज या राष्ट्र के विनाश का कारण होता है। यह बात स्मरणीय है कि राष्ट्र के और दूसरे के हित में ही हमारा हित भी निहित है। जिनके पास धन है, उन्हें उसका एक अंश निर्धनों के आर्थिक विकास में लगाना चाहिए, इसी में उनका कल्याण है। स्वार्थी व्यक्ति को आनन्द की प्राप्ति असम्भव है। केवल नि:स्वार्थता ही आनन्द प्रदान करनेवाली है। हमारी प्रसन्नता दूसरों की प्रसन्नता पर और हमारी भलाई दूसरों की भलाई पर आश्रित है। यह तत्त्व यदि भुला दिया गया, तो प्रसन्नता की प्राप्ति असम्भव है। मुझे स्वामीजी के जीवन की एक घटना याद आ रही है। तब वे अमेरिका में काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। समाचार पत्रों में उनके बारे में विख्यात धनी जॉन डी रॉकफेलर ने अपने मित्रों को बार-बार इस असाधारण अद्‌भुत हिन्दू संन्यासी की चर्चा करते हुए पाया। कई बार उन्हें स्वामीजी से मिलने का आमंत्रण भी

मिला, पर किसी-न-किसी कारण से उन्होंने हर बार टाल दिया। उन दिनों रॉकफेलर यद्यपि अपने भाग्य के चरमोत्कर्ष तक नहीं पहुँचे थे, फिर भी वे एक शक्तिशाली और दृढ़ इच्छा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनसे कोई भी बात स्वीकार कराना असम्भव सा था।

यद्यपि उनकी स्वामीजी से मिलने की इच्छा न थी, पर एक दिन वे एक मनोवेग से प्रेरित होकर सीधे अपने उस मित्र के पास जा पहुँचे, जहाँ स्वामीजी ठहरे हुए थे। रसोइये ने दरवाजा खोला। उन्होंने उसे धक्का देते हुए अन्दर प्रवेश कर कहा, वे हिन्दू संन्यासी से मिलना चाहते हैं। रसोइये ने उनके ठहरने के कमरे की ओर इंगित किया और रॉकफेलर बिना सूचना दिए या प्रतीक्षा किए स्वामीजी के अध्ययन कक्ष में जा पहुँचे। यह देखकर उनके विस्मय की सीमा न रही कि लिखने की मेज पर बैठे हुए स्वामीजी ने आगन्तुक की ओर दृष्टि तक न उठायी।

कुछ क्षण मौन रहने के बाद स्वामीजी ने रॉकफेलर की उनके बीते हुए जीवन से सम्बन्धित बहुत सी बातें बतायीं जो स्वयं उनको छोड़ दूसरा कोई नहीं जानता था। साथ ही उन्होंने रॉकफेलर को यह भी समझा दिया कि जो धन एकत्र किया है, वह उनका अपना नहीं है, वे उस धन के मात्र एक न्यासी हैं, उनका कर्तव्य है जगत का हित करना। ईश्वर ने उन्हें धनाढ्य इसलिए बनाया है कि वे लोगों की सहायता और सेवा का सुयोग पा सकें।

भला कोई रॉकफेलर को यह बतलाने का साहस करे कि उन्हें क्या करना चाहिए? वे चिढ़ गये और बिना विदा माँगे ही कमरे से बाहर निकल गए। लगभग एक सप्ताह के बाद वे फिर बिना किसी पूर्व सूचना के आए और स्वामीजी के अध्ययन कक्ष में प्रवेश किया ! उन्होंने उन्हें उसी मुद्रा में बैठे देखकर उनकी मेज पर एक कागज फेंक दिया, जिसमें एक सार्वजनिक संस्था को दान के रूप में एक बड़ी धनराशि देने की योजना थी।

रॉकफेलर ने कहा, ''महाशय ! अब तो आप सन्तुष्ट होंगे और मुझे इसके लिए धन्यवाद देंगे।'' स्वामीजी ने न तो आँखें उठाईं और न अपनी जगह से हिले ही। कागज को हाथ में उठाकर पढ़ते हुए बोले, 'बल्कि चाहिए यह कि आप मुझे धन्यावाद दें !' जन-हितार्थ रॉकफेलर की यह पहली बड़ी दानराशि थी।

हमारे देश के धनिक नागरिकों को भी इस उदाहरण का अनुकरण करना चाहिए, ताकि लोगों के बीच की खाई अधिक गहरी न हो। यह वैषम्य धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी दूर किया जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण के साथ दूसरों की सेवा का महान आदर्श न केवल ईश्वरप्राप्ति में हमारी सहायता करेगा, अपितु यह एक विश्वव्यापी वर्ग-निरपेक्ष समाज की स्थापना में भी सहायक होगा।

मैं पुन: एक बार आप सबसे कार्यकर्त्ताओं से निवेदन करूँगा कि वे स्वामीजी के 'जीव ही शिव है', इस महान आदर्श को अपने जीवन में अपनाएँ। मैंने पहले ही कहा है कि हमें रत्ती भर भी अतिरिक्त समय या शक्ति का व्यय नहीं करना होगा। हमें केवल अपना मानसिक दृष्टिकोण बदलना होगा। इससे हम ईश्वरप्राप्ति के मार्ग में एक महान आदर्श का पालन कर सकते हैं। इससे उन्हें अपने साधना पथ में सहायता मिलेगी और संस्थान का मार्ग भी सुचारु रूप से चलेगा। मुझे आशा है कि आप सभी 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' इस महान आदर्श का अपने जीवन में आचरण करेंगे।

(स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज, रामकृष्ण संघ के दशम संघाध्यक्ष थे)

स्वामी विवेकानन्द जी ने अपने परिव्राजक जीवन का कुछ समय स्वामी अखण्डानन्द जी के साथ बिताया था। बेलूड़ मठ में एकदिन स्वामीजी अपने भ्रमण-काल की बातें बता रहे थे। अखण्डानन्द जी भी बीच-बीच में उनके द्वारा भूली हुई घटनाओं की याद दिला रहे थे। इस पर स्वामीजी ने उन्हें डाँटते हुए कहा, 'बड़ा बक-बक कर रहा है, चुपचाप बैठकर ध्यान कर।' अखण्डानन्द जी ने भी वैसा ही किया, ध्यान में बैठ गए, पर स्वामीजी को अच्छा नहीं लगा। उस समय हिमालय-भ्रमण की बात उठी। स्वामीजी ने अखण्डानन्द जी से पूछा, 'क्यों रे, वह मछली कितनी बड़ी थी?' अखण्डानन्द जी तो मानो ध्यान-मग्न बैठे हों, उन्होंने वैसे ही आँखें मूँदे हुए दोनो हाथ फैलाकर बता दिया, 'इतनी बड़ी !' और फिर से मानो ध्यान में डूब गए। इस पर सभी बड़े जोरों से हँसने लगे।

रामकृष्ण-विवेकानन्द की दृष्टि में सेवा

स्वामी भूतेशानन्द

दक्षिणेश्वर में एक दिन श्रीरामकृष्ण ने अर्द्धबाह्य दशा में कहा था – 'जीव के प्रति दया नहीं, शिव-भाव से जीव-सेवा।' उस दिन स्वामी विवेकानन्द (तत्कालीन नरेन्द्रनाथ) के अतिरिक्त उपस्थित लोगों में से अन्य कोई भी व्यक्ति श्रीरामकृष्ण की इस उक्ति का तात्पर्य हृदयंगम नहीं कर सका। स्वामीजी ने कहा था – "ठाकुर के श्रीमुख से आज जो अद्‌भुत सत्य सुना है, उसका भविष्य में सर्वत्र प्रचार करूँगा।" सेवा-धर्म का जो बीज श्रीरामकृष्ण अपने जीवन-काल में बो गये थे, उसने परवर्ती काल में रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन की कार्यधारा में विशाल-वृक्ष के रूप में आत्म-विकास किया। स्वामीजी और उनके सभी गुरुभाई इस 'शिव-भाव से जीव-सेवा' के मूर्त विग्रह थे। स्वामीजी ने कहा है – 'यह जान लेना कि अवतार के अन्तरंग पार्षद केवल वे ही होते हैं, जो दूसरों के हित में सर्वत्यागी होते हैं, जो भोग-सुख का काकविष्ठा की तरह 'जगद्धिताय' संसार के कल्याण के लिए परित्याग करते हैं तथा 'परहिताय' जीवन का अन्त कर देते हैं। इसीलिए बहुजनहिताय बहुजनसुखाय, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वामीजी ने मठ की स्थापना की, जिसका मूल मन्त्र है – 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' – अपनी मुक्ति और जगत का कल्याण करना। मुर्शिदाबाद में इस आदर्श को सर्वप्रथम वास्तविक स्वरूप प्रदान किया स्वामीजी के अनन्य गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्दजी ने। इसके बहुत पहले मथुरबाबू के साथ तीर्थ यात्रा के समय वैद्यनाथ धाम में आर्त और दरिद्र लोगों की पीड़ा से श्रीरामकृष्ण का हृदय विदीर्ण हुआ था। उन लोगों की सेवा के लिए वे तीर्थयात्रा नहीं जाने को भी तैयार थे। वह घटना इस प्रकार है – मथुरबाबू के साथ काशी, वृन्दावन आदि तीर्थों का दर्शन करने जाते समय वैद्यनाथ धाम के निकट एक गाँव में लोगों का दुख-दारिद्र्य देखकर श्रीरामकृष्ण का हृदय करुणा से भर गया। उन्होंने मथुर से कहा – 'तुम तो माँ के दीवान हो। इन सबको सिर में लगाने के लिए तेल और एक-एक वस्त्र दो। एक दिन भरपेट भोजन करा दो। पहले तो मथुर बाबू थोड़ी दुविधा में पड़ गये। बोले – 'बाबा, तीर्थ में बहुत खर्चे होंगे। यहाँ तो अनेक लोगों को देखता हूँ। इन लोगों को भोजन देने से रुपयों की कमी हो सकती है। ऐसी स्थिति में क्या कहते हैं? उस समय ग्राम-वासियों का दु:ख देखकर श्रीरामकृष्ण के नेत्रों में अनवरत अश्रुपात हो रहे थे। उन्होंने कहा – 'धत्, तुम्हारी काशी मैं नहीं जाऊँगा।' इतनी बात कहकर वे बच्चों की तरह हठ कर उन लोगों के बीच में जा बैठे। इसके बाद की घटना सबको मालूम है। उस दिन ठाकुर ने स्वयं ही सेवा-व्रत के आदर्श को यथार्थ में प्रतिष्ठित कर दिया था।

आज से सौ वर्ष पूर्व १८९३ ई. के मई महीने में मुर्शिदाबाद के दुर्भिक्ष की करुण कथा सुनकर स्वामीजी का हृदय भी विगलित हो गया था एवं स्वामी अखण्डानन्द को सेवाकार्य के लिए उन्होंने केवल उत्साहित ही नहीं किया, बल्कि आर्थिक सहायता भी प्रदान की थी। संघनायक स्वामीजी की प्रेरणा से रामकृष्ण मिशन के प्रथम संगठित सेवाव्रत का शुभारम्भ तभी से हुआ था। अखण्डानन्दजी को कथित उनकी अग्निमयी वाणी आज भी सब के प्राणों में उत्साह और उद्दीपन का संचार करती है। 'गेरुआ वस्त्र भोग के लिए नहीं है। यह महाकार्य का प्रतीक है – मनसा वाचा कर्मणा 'जगद्धिताय' करना होगा। तुमने पढ़ा है 'मातृदेवो भव' मैं कहता हूँ, 'दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव।' दरिद्र, मूर्ख, अज्ञानी, दुखी ये ही तुम्हारे देवता हों।'

इनकी सेवा को ही परमधर्म समझना

ठाकुर का सम्पूर्ण जीवन ही दूसरों के लिये समर्पित था। दूसरों के प्राणों में थोड़ी सान्त्वना देने के लिए ठाकुर की करुणापूर्ण पुकार सबके हृदय का स्पर्श करती है। इनकी तप:पूत देह इतनी कोमल थी कि द्वार-द्वार जाकर नित्यानन्द की भाँति ज्ञान-दान करने, प्रेम-वितरण करने की उनकी क्षमता नहीं थी। गिरीश बाबू ने एक दिन ठाकुर के समीप जाकर देखा, उनकी आँखों से झर-झर आँसू प्रवाहित हो रहे हैं और दुख से कह रहे हैं, 'निताई (नित्यानन्द) ने पैदल चलकर घर-घर में प्रेम-वितरण किया था। किन्तु मैं तो गाड़ी नहीं होने पर चल ही नहीं पाता हूँ।' फिर कभी दूसरे समय में कहा था – 'मैं साग

खाकर भी दूसरों का उपकार करूँगा।'

जीव के उद्धार के लिये ही श्रीरामकृष्ण का आगमन हुआ। वे माँ के निकट कातर भाव से प्रार्थना करते हैं, 'माँ मुझे बेहोश मत करो ! माँ मुझे ब्रह्मज्ञान मत दो !' वे दुखतप्त पीड़ितों के प्राणों में आशा और आनन्द का संचार करना चाहते थे। दूसरी ओर प्लेग की सेवा के लिए बेलूड़ मठ को बेच देने में भी स्वामीजी के मन में थोड़ी-सी भी दुविधा नहीं थी। अपनी सन्तानों को दुखार्त लोगों की सेवा करते देखकर वे गम्भीर रूप से अभिभूत हो जाते थे। अपने उसी आनन्द की अभिव्यक्ति को उन्होंने कुमारी हेल को लिखित एक पत्र में इस प्रकार की है – "तुम्हारा हृदय यह देखकर आनन्द से प्रफुल्लित हो जाता कि किस तरह मेरे वत्सगण अकाल, व्याधि और दुख-कष्ट के बीच में काम कर रहे हैं। हैजे से पीड़ित 'पेरिया' की चटाई के पास बैठे उसकी सेवा कर रहे हैं और भूखे चाण्डाल को खिला रहे हैं।"

क्षणभंगुर मानव-जीवन

मनुष्य के जीवन में स्थायित्व कितना कम है –

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनं
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्न दिवसाः कालो जगद्भक्षकः
लक्ष्मीस्तोयतरंगभंगचपला विद्युच्चलं जीवितं
तस्मान्मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना ।।

(श्रीशिवापराधक्षमापनस्तोत्रम् – १३)

प्रतिदिन आयु नष्ट हो रही है, यौवन का क्षय हो रहा है। बीता हुआ दिन फिर वापस नहीं आता। काल संसार का भक्षक है और लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) जल की तरंग-भंग की भाँति चपला है। जीवन विद्युत के समान क्षणभंगुर है।

स्वामीजी ने कहा है – 'यह जीवन क्षणभंगुर है, संसार का धन, मान, ऐश्वर्य सभी क्षणिक हैं। केवल वे ही वास्तविक रूप से जीवित हैं, जो दूसरों के लिये जीते हैं। स्वामीजी के विचारानुसार दूसरों को प्रेम करना और दूसरे के दुख से दुखित होना एवं दुख दूर करने के लिए आन्तरिक प्रयास करना, यही वास्तविक मानव धर्म है। स्वामीजी कहते हैं – "क्या तुम लोग मनुष्य को प्रेम करते हो? ...दरिद्र दुखी, दुर्बल, ये सब क्या तुम्हारे ईश्वर नहीं हैं? पहले उनकी उपासना क्यों नहीं करते हो?" वे कहते हैं – 'जीव-सेवा से बढ़कर और दूसरा कोई धर्म नहीं है।"

आज भी लाखों व्यक्ति दरिद्रता की मार से जर्जर हो जीवन का अन्त कर देते हैं। भूख नहीं मिटा पाने के कारण माँ अपनी सन्तान की हत्या कर रही है। समाचार पत्र पढ़ने पर नित्य ही उसका करुणापूर्ण वर्णन देखने को मिलता है। हमलोग देखकर भी उसे नहीं देखते, उसके निवारण का प्रयास नहीं करते। यह क्या हमलोगों की आत्म-प्रवंचना नहीं है?

हम लोगों की इसी जड़ता को फटकारते हुए स्वामीजी कहते हैं – "स्वार्थपरायणता – पहले अपने लाभ के लिए सोचना ही सबसे बड़ा पाप है। जो पहले यह सोचता है कि पहले मैं खाऊँगा, दूसरे की अपेक्षा मैं अधिक धनवान होऊँगा, मैं समस्त सम्पदाओं का स्वामी होऊँगा, जो यह सोचता है कि मैं दूसरे से पहले स्वर्ग जाऊँगा, मैं दूसरे से पहले मुक्ति-लाभ करूँगा, वही व्यक्ति स्वार्थपरायण है। स्वार्थरहित व्यक्ति कहता है – मैं सबके पहले जाना नहीं चाहता, सबके बाद मैं जाऊँगा। मैं स्वर्ग जाना नहीं चाहता। यदि अपने भाई-बन्धुओं की सहायता करने के लिए नरक जाना पड़े, उसके लिए भी तैयार हूँ।' वास्तविक सेवक को निश्चय ही स्वार्थरहित होना होगा। तभी सेवा पूजा में परिणत होगी एवं सही ढंग से ऐसा कर सकने पर वही हमलोगों की मुक्ति की सीढ़ी होगी। मुक्ति मुष्टिगत होगी – 'मुक्तिः करफलायते।' सेवा का अर्थ केवल अनेक लोगों को अन्न, वस्त्र देना नहीं है, यह आत्मोन्नति का मार्ग है, निष्काम कर्मसाधना का क्षेत्र है। इस निष्काम कर्म के फलस्वरूप चित्त शुद्ध होता है तथा श्रीभगवान सर्वत्र ही विराजमान हैं, यह हृदयंगम होता है। उन्होंने (भगवान ने) जो हमलोगों को सेवा का सुयोग प्रदान किया है, यह हमलोगों की परम उपलब्धि है। इसे मन में रखकर कृतज्ञतापूर्वक अपने अंहकार और स्वार्थपरता का त्याग कर यदि मात्र एक दरिद्र व्यक्ति की भी श्रद्धापूर्वक साधारण सेवा की जाय, तो इससे भी हमारा जीवन धन्य हो जाएगा।

शास्त्र कहते हैं – **'श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्** – श्रद्धापूर्वक देना होगा, श्रद्धाहीन होकर नहीं। यथार्थ त्याग और सेवा का मनोभाव नहीं रहने पर मनुष्य की

सही-सही सेवा नहीं की जा सकती। एक बार पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) ने एक व्यक्ति को सेवा-केन्द्र में भेजने के पहले कहा था – 'लोगों के द्वारा दिये गए रुपये तू लोगों को देगा, तो फिर तू क्या देगा?' फिर स्वयं ही उन्होंने उत्तर देते हुए कहा था – तू अपना हृदय देगा, प्रेम देगा, प्राण देगा।' अर्थात् कर्म और उपासना का समन्वय होता है, वे सामान्य मनुष्य नहीं होते, वे महापुरुष सबके पूज्य होते हैं।

श्रीरामकृष्ण हमलोगों को वह शक्ति और सामर्थ्य दें, जिससे उनके आदर्श को कार्य में परिणत कर हमलोग अपने इस मानव जीवन को सार्थक कर सकें। स्वामीजी ने अपने पश्चिमी देशों की यात्रा समाप्त कर स्वदेश वापस आकर अपने देश और मानव जाति के कल्याण में मन, वचन और शरीर से अपने आप को समर्पित कर देने का आह्वान किया था। इस उद्देश्य से ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण नामांकित 'रामकृष्ण मिशन' की आज से सौ वर्ष पूर्व '१ मई, १८९७ ई. में स्थापना की थी। उन्होंने कहा था –

ब्रह्म और परमाणु, कीट तक,
सब भूतों का है आधार।
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके
चरणों में दो तन-मन वार ।।
बहु रूपों से खड़े तुम्हारे
आगे और कहाँ है ईश?
व्यर्थ खोज ! यह जीव प्रेम
की ही सेवा पाते जगदीश ।।

स्वामीजी की यह अमृतवाणी हमलोगों के मन में सदैव जाग्रत रहे। ○○○

(स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज रामकृष्ण संघ के १२वें संघाध्यक्ष थे।)

स्वामी अखण्डानन्द के पास सर्वदा श्रीरामकृष्ण का एक चित्र रहा करता था। तिब्बत में एक बौद्ध मठ में निवास के दौरान एक लामा ने उनके हाथ से वह चित्र लेकर भगवान तथागत की मूर्ति के पास रख दिया और उसकी पूजा-आरती करने के बाद उनसे पूछा, 'यह चित्र तुम्हें कहाँ मिला? ये कौन हैं? ये नेत्र साधारण मनुष्य के नहीं है – ये भगवान बुद्ध हैं।'

स्नेहमयी माँ सारदा

एक दिन कोयलपाड़ा से एक बूढ़ी बोझा ढोने वाली के सिर पर कुछ सामान लदवाकर मैं करीब दस बजे जयरामवाटी लौटा। बुढ़िया ने सामान उतारकर माँ को प्रणाम किया। माँ ने उससे कहा, 'माँझी बहू, तुम बहुत दिनों से आयी क्यों नहीं?'' तब वृद्धा करुण स्वर में बोली, 'माँ, आजकल बड़े कष्ट में हूँ। जगह-जगह अनाज जुटाने के लिए भटकती फिरती हूँ। इसलिये जब सामान ले जाने के लिए बाबू लोग मेरी खोज करते हैं, तो हर बार उनसे मिल नहीं पाती। कुछ दिन पहले मेरा जवान कमाऊ बेटा मर गया।''

माँ ने यह सुनकर कहा, ''कहती क्या हो माँझी बहू ! यह कहते-कहते ही उनकी आँखें छलछला आयीं। माँ की सहानुभूति पाकर बुढ़िया दहाड़ मारकर रोने लगी। माँ भी उसके पास बैठकर बरामदे की खूँटी से सिर टिकाकर जोरों से रोने लगीं। उनका रोना सुनकर घर की सब महिलाएं दौड़ी आयीं और यह दृश्य देखकर दूर चुपचाप स्थिर खड़ी रहीं। कुछ समय इसी प्रकार बीत गया। रुदन का वेग कम होने पर माँ ने धीरे-धीरे नवासन की भाभी से नारियल का तेल लाने को कहा। तेल आने पर उन्होंने उसे वृद्धा के सिर पर लगाया और उसके आँचल में मुरमुरा और गुड़ बाँधकर बिदा करते हुए सजल नेत्रों से बोलीं, ''फिर आना माँझी बहू।'' माँ के इस करुणापूर्ण व्यवहार से वृद्धा को कैसी सान्त्वना मिली यह उसके चेहरे को देखकर समझ में आ रहा था।

एक दूसरी घटना है। एक बार जयरामबाटी में पानी भरे गड्ढे में बण्डे दिखा पड़े। एक लड़का उसे तोड़कर पीठ पर लेकर श्रीमाँ के पास पहुँचा। उसे देखकर माँ ने हँसते हुए कहा, इधर के लोग बण्डे का साग खाना नहीं जानते। किन्तु मैं इसे बनाऊँगी। फिर माँ ने पूछा, यह साग कहाँ मिला। उस लड़के ने कहा कि बनर्जी लोगों के मकान के पास गड्ढे में मिला। माँ ने कहा – पानी का साग ! वह तो खूब काटता है ! अरे बुद्धू बच्चे ! पानी का साग काटता है, नहीं जानता? इतना कहकर उन्होंने देखा कि उसकी पीठ और दोनों हाथ सूज गए हैं और खुजली जैसे दिखी। वे तुरन्त तेल लगाकर मालीश करने लगीं। तेल लगाकर माँ ने कहा, अभी नहाओ मत, पहले तेल सूख जाने दो, नहीं तो पानी पड़ने पर फिर से सूज जाएगा। ऐसी थी माँ की सहृदयता ! ○○○

मानव-सेवा का दर्शन

स्वामी रंगनाथानन्द

प्रस्तावना

'मानव-सेवा का दर्शन' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। जब मैं वर्तमान भारत में अपने चारों ओर अवलोकन करता हूँ, तब एक विषय जो मुझे अपने देश के लिए परम लाभदायक दिखाई पड़ता है, वह सेवा ही है। हमारे समाज पर शताब्दियों से हर प्रकार के शोषण की मुहर लगी हुई है, जिसका व्यवहार मनुष्य ने मनुष्य पर किया है। बुद्धिजीवी साधारण लोगों का, धनी दरिद्रों का, शासकगण अपनी प्रजा का और पुरुष नारियों का शोषण करते रहे हैं। प्राय: महिलाएँ महिलाओं का शोषण करती रही हैं। हम सब प्रकार के शोषण में निमग्न रहे हैं। केवल इसी से, पिछली दो शताब्दियों से हमारे व्यक्तिगत और सामूहिक निम्न जीवन-स्तर का पता चल जाता है। इसके कारण हमें भारी कीमत चुकानी पड़ी है। सदियों की राजनीतिक दासता तथा भारत के धनी और निर्धन, दोनों लोगों पर समान रूप से हर प्रकार के सामाजिक अपमान की वर्षा होती रही है।

इससे हमारी आँखें खुल जानी चाहिए थीं। किन्तु, बीस वर्षों की राजनीतिक स्वाधीनता के बाद भी, आज हम देखते हैं कि हमने इतिहास से कोई सबक नहीं सीखा। सारे रोग जो आज हम लोगों को आक्रान्त कर रहे हैं, तथा हमारे राष्ट्र के सारे दु:ख केवल एक स्रोत से उत्पन्न होते हैं, वह स्रोत यह है कि भारत में मनुष्य ने अपना अवमूल्यन कर दिया है। उसने मनुष्य के रूप में अपनी गरिमा और महत्त्व को नहीं जाना है। उसने अपने मानव बन्धुओं में मनुष्य की गरिमा और महिमा को नहीं पहचाना है। यही वह विषय है, जिसे आज हमारी शिक्षा और जनजीवन का मुख्य आधार होना चाहिए, ताकि एकमात्र इस नींव पर, जिसे विवेकानन्द ने 'मनुष्य-निर्माण' कहा है, हम राष्ट्र-निर्माण कर सकें। अपने समाज के विभिन्न असमान तत्त्वों से, जिसके पीछे हजारों वर्षों का इतिहास है, एक महान आधुनिक राष्ट्र का निर्माण करना कोई आसान काम नहीं है। इसके लिए अपने भीतर गहन विश्वास और बाहर अपने सपनों और विचारों को वास्तविक स्वरूप में क्रिया करने की दृढ़ इच्छा शक्ति से सम्पन्न नए ढंग के पुरुषों और नारियों की आवश्यकता है। सत्तर वर्ष से अधिक पहले स्वामी विवेकानन्द ने इसकी आवश्यकता की ओर संकेत किया था, जब उन्होंने मनुष्य बनाने वाली शिक्षा और मनुष्य बनाने वाले धर्म की अपनी धारणा का प्रतिपादन किया था। उन्होंने कहा कि संसार के धर्म प्राणहीन स्वांग बनकर रह गए हैं और हमें जिस चीज की जरूरत है, वह है चरित्र। ये धर्म, जिस रूप में करोड़ों व्यक्तियों द्वारा जिए जाते है और आचरित होते हैं, ये अपनी बाहरी धार्मिकता के पीछे प्रचुर स्वार्थपरता, सामाजिक निष्ठुरता और हिंसा को छिपाए रहते हैं, इसने हमारे इतिहास को विकृत किया है, हमारे राष्ट्रीय विकास में बाधा खड़ी की है और हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताओं को निष्फल कर दिया है। भारत में धर्म बहुत पहले ही धार्मिकता का लबादा ओढ़े सांसारिकता में बदल गया था। बीस वर्षों की आजादी के बाद आज जब हम अपने राष्ट्र के भविष्य के प्रति निराश होने लग गए हैं, तथा जब हम अपने नन्हें लोकतांत्रिक राज्य, जिसकी स्थापना हमने १९४७ और १९५० में इतने उत्साह और धूमधाम से की थी, के स्थायित्व के प्रति अनिश्चित होने लग गए हैं, विवेकानन्द के उपर्युक्त कथनों का महत्त्व आज हमारे राष्ट्र में प्रासंगिक प्रतीत होने लगा है।

भारत के राष्ट्रीय आदर्श : त्याग और सेवा

अतएव, एक बात जिस ओर आज हमारा ध्यान जाना चाहिए, वह है मनुष्य तथा अन्तर्मानवीय-सम्बन्ध। अन्तर्मानव का वह कौन-सा रूप है, जो सार्वजनिक सुख और कल्याण का प्रेरक है? निरन्तर इतिहास में मनुष्य ने अपने मानव बन्धुओं का शोषण किया है। हमलोग मात्र एक प्रकार के शोषण से परिचित हैं। वह है आर्थिक शोषण। मार्क्स एवं उसकी विचारधारा ने इसे विशिष्टता प्रदान की है। किन्तु शोषण दूसरे प्रकारों का भी हो सकता है और हो रहा है। जो कुछ अतिरिक्त संसाधन मनुष्य अपने पास रखता है, उनका दूसरों के शोषण के लिए वह आसानी से उपयोग कर सकता है। दूसरा विकल्प है अपनी अतिरिक्त ऊर्जा, बुद्धि, वैभव और शक्ति का उपयोग अन्य लोगों की सेवा के लिए करना। हमारे देश ने अपनी आजादी के बाद से दूसरे विकल्प की जगह प्रथम विकल्प को क्यों चुना है? स्वामी विवेकानन्द ने प्राय: सत्तर वर्ष पूर्व घोषणा की थी – "भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं: त्याग और सेवा। आप इन धाराओं में तीव्रता उत्पन्न

कीजिए, और शेष सब अपने आप ठीक हो जाएगा।'' (वि.सा. खंड-३, पृष्ठ-२८)

हम आजादी का मूल्य क्यों भूल गए?

उच्चतर अहं को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से क्षुद्र-अहं का त्याग और सेवा का भाव – भारत के ये दो आदर्श हैं। विगत शताब्दी के हमारे महान राष्ट्रीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप हमारे देश ने त्याग और सेवा के इस भाव से स्वयं को अनुप्राणित किया तथा भारत की स्वाधीनता एवं भारत के राष्ट्र-निर्माण के उद्देश्य से दल-के-दल समर्पित कार्यकर्ताओं को भारत के कोने-कोने में झोंक दिया। उनके योगदानों के फलस्वरूप देश स्वाधीन हुआ और १९४७ ई. में सदियों पुरानी गतिहीनता एवं दासता समाप्त हुई। इसके पश्चात् उस महान मनःस्थिति और मनोभाव को हम क्यों नहीं बनाए रख सके, यह एक रहस्य है। हमारे देशवासी अपनी सदियों की दासता के अन्धकार से निकल कर आजादी के प्रकाश में आकर कैसे अपने इतिहास की सीखों और चेतावनियों को आसानी से भूल सके तथा रचनात्मक होना समाप्त कर सके, यह आश्चर्य की बात है। इतिहास ऐसे देशों के उदाहरणों से भरा पड़ा है, जो राजनीतिक दासता के सम्मोहन से निकलकर रचनात्मक ऊर्जा से फट पड़े। एथेन्स इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। जब इसने संगठित एवं लम्बे संघर्ष के द्वारा फारस के आक्रामकों को पराजित करने तथा उनकी अल्पकालिक किन्तु गहन यातनापूर्ण दासता से अपने को मुक्त करने में सफलता प्राप्त की, तब एथेन्स का लोकतन्त्र स्वाधीनता के हर्षोन्माद से भर गया। यह हर्षोन्माद अगले ५० वर्षों में इसके राष्ट्रीय जीवन के सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और कलात्मक, हर क्षेत्र में एक रचनात्मक क्रियाशीलता के रूप में फट पड़ा, जिसने न केवल इसके अपने बल्कि सभी परवर्ती पाश्चात्य इतिहास को भी उज्ज्वल कर दिया। हम एथेन्स की भाँति अल्पकालिक दासता के बाद नहीं, बल्कि सदियों की गुलामी के बाद आजाद होने पर, एथेन्स के समान ही सतत आनन्दातिरेक का अनुभव करने में क्यों विफल हो गये और स्वाधीनता मिलने के कुछ ही वर्षों के भीतर हमने अपनी रचनात्मक ऊर्जाओं को क्यों सूखने दिया? अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति की धारा के सूखते ही हम पूर्व की भाँति निष्क्रियता के पथ पर तेजी से सरक गए, एक आत्म-सन्तोष के भाव में आ गए तथा स्वार्थपरायणता और आत्म-केन्द्रिकता के पथ पर लुढ़क गए। हमलोगों के संक्षिप्त स्वातंत्र्योत्तर इतिहास की यही त्रासदी है। हमने सैनिक पराजयों, आर्थिक संकटों, राजनीतिक विघटनों तथा सामाजिक उथल-पुथलों के रूप में इसकी भारी कीमत चुकाई है। जहाँ प्रत्येक पुरुष या नारी ने केवल अपने सुख की तलाश की, वहाँ आज कोई सुखी नहीं है।

रचनात्मक चिन्तन की आवश्यकता

यह हमलोगों को एक कल्याणकारी शिक्षा, पारस्परिकता या सहोपकारिता तथा अन्योन्याश्रयता की नैतिक शिक्षा प्रदान कर रहा है। हमारे देश के वर्तमान रोग हमारे देशवासियों को चिन्तन और आत्मविश्लेषण करने की मनोवृत्ति उत्पन्न कर रहे हैं। यह हमारे राष्ट्रीय जीवन का परम शुभ पक्ष है। रचनात्मक चिन्तन सामाजिक स्वास्थ्य के आरम्भ का निर्विवाद लक्षण है। सर्वांगीण विकास चिन्तन से निकलता है। हमारे देश ने बीस वर्षों तक विवेकानन्द के शब्दों पर चिन्तन नहीं करने की लापरवाही के बाद, अब चिन्तन करना शुरू किया है। जिस अवस्था में हम रह रहे हैं, उसकी जानकारी हमें हो गई है और हम गम्भीरतापूर्वक यह सोचने लगे हैं कि कैसे इस अव्यवस्था से हम बाहर निकल सकते हैं। यह स्वास्थ्य की ओर, राष्ट्रीय रचनात्मकता की ओर जाने की प्रवृत्ति की शुरुआत का निर्विवाद लक्षण है। हमें इस प्रवृत्ति को बनाए रखना है, इसे तीव्र करना है और सभी आत्म-सन्तुष्टि, स्वार्थपरता और आत्मकेन्द्रिकता जैसे बुरे फलों का त्याग कर देना है।

इस अपराह्न में आपके साथ मिलकर यह सोचने के लिए ही मैं यहाँ आया हूँ कि कैसे अपने देश के स्वास्थ्य और ओज को पुनः वापस लाया जा सके। जीव विज्ञान हमें बताता है कि मनुष्य एक अन्तर्-चिन्तनशील प्राणी है। इस सृष्टि में मनुष्य ही एकमात्र चिन्तनशील जाति है। इस पारस्परिक चिन्तन की प्रक्रिया के द्वारा ही वह विकास की गति को आगे बढ़ाता है। इसी कार्य में इस शान्त वेला में अपने को नियोजित रखने के लिए हमलोग यहाँ इकट्ठा हुए हैं। यही वह कार्य है जिसमें सभी देशभक्त नागरिकों को जब भी वे समूह में इकट्ठे हों, अपने को नियोजित करना चाहिए। इस सन्दर्भ में और इसी पृष्ठभूमि में मैं 'मानव सेवा का दर्शन' जैसे महान विषय पर विचार करना चाहता हूँ। हम लोग 'सेवा' शब्द का प्रयोग अधिकांश व्यावसायिक अर्थ में करते रहे हैं। हमारे यहाँ केन्द्रीय

सेवाएँ, राज्य सेवाएँ और बहुत-सी अन्य प्रकार की सेवाएँ हैं। मैं सामान्यत: अन्तर्मानव सम्बन्धों तथा उनमें अन्तर्निहित दर्शन के व्यापक क्षेत्र के अंश के अतिरिक्त सेवा के उन अर्थों पर विचार करने यहाँ नहीं आया हूँ।

बुद्धिसंगत आचारशास्त्र की खोज

मैंने पहले कहा है, **सेवा मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध का सर्वोत्तम रूप है।** इसके लिये व्यक्ति में विकास तथा अच्छाई हेतु परिवर्तन आवश्यक है। वह परिवर्तन क्या है? वह विकास क्या है? लगातार इन शताब्दियों में हम इस महान विषय पर विचार करने तथा इसे समझने में विफल रहे हैं, क्योंकि निरन्तर सदियों तक अन्तर्मानव सम्बन्धों के हमारे रूप निर्धारित रूपों तथा निश्चित ढाँचों में व्यक्त हुए, जहाँ मानव-व्यक्तित्व के विकास का कोई अर्थ नहीं था। वे बुद्धिसंगत रूप से निर्धारित नहीं हुए, बल्कि जातिगत कारणों तथा पारम्परिक या रूढ़िगत धार्मिक आदेशों के द्वारा निर्धारित हुए थे। उन्होंने आचरण और व्यवहार के ढाँचे उत्पन्न किए, जिनकी अच्छाई या बुराई किसी एक ग्रन्थ की प्रामाणिकता या किसी जातिगत आदेश से निर्गत हुई थी। हमलोग क्रमश: स्वयं मानव-स्वभाव से अनुमोदित एक बुद्धिसंगत नैतिक संहिता विकसित करने तथा मानवीय आचार और व्यवहार को बनाए रखने के योग्य होने में सफल नहीं हो सके। आज हमारे देश को मनुष्य के लिए मनुष्य के रूप में एक व्यापक रुचि की आवश्यकता है। उसे जातियो, सम्प्रदायों और समुदायों में टुकड़े-टुकड़े रूपों में देखने की जरूरत नहीं है, उस हेतु एक तर्कसंगत नैतिकता एवं आध्यात्मिकतायुक्त विधि के प्रतिपादन की आवश्यकता है।

प्रत्येक मनुष्य को समाज में दूसरे मनुष्यों की उपस्थिति की चुनौती का सामना करना पड़ता है। वह सामाजिक परिवेश के प्रति मैत्रीपूर्ण भाव से या शत्रुतापूर्ण भाव से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकता है। यह उसकी अपनी अवधारणा और अपने प्रति मूल्यांकन पर निर्भर करता है। जब उसकी एकमात्र रुचि अपने जीवित रहने और अपनी ऐन्द्रिक तुष्टियों तक सीमित रहती है, तब वह विद्वेषपूर्ण भाव अपनाता है। जब इसी भाव की उसमें प्रबलता होती है, तब उसका आचरण पशुओं के आचरण से बहुत भिन्न नहीं होता। तथापि कोई भी वास्तविक मनुष्य सदैव इसी भाव से प्रेरित नहीं होता। निम्नतम कोटि का मनुष्य भी कभी-कभी एक या एक से अधिक अन्य मनुष्यों के लिए यथार्थ रुचि का अनुभव करता है। इससे उसे लगता है कि उसने स्वयं अपने सीमित व्यक्तित्व का विस्तार किया है। यह मनुष्य में नैतिक-बोध के आविर्भाव को सूचित करता है। बीसवीं शताब्दी के जीव विज्ञान के अनुसार इसकी संस्कृति और विकास विशेष रूप से विकास के मानवीय पहलू का निरूपण करते हैं।

विकास और नैतिकता

उन्नीसवीं शताब्दी के जीव-विज्ञान के अपने विकासवादी सिद्धान्त में नैतिक भाव और नैतिक आचरण का कोई स्थान नहीं था। नैतिकता और विकास एक दूसरे के समानान्तर चलते थे। जैसे कि थॉमस हक्सले ने अपनी 'इवोल्युशन एण्ड एथिक्स' (विकास और नैतिकता) नामक पुस्तक में कहा है, "विकास का अर्थ है अस्तित्व के लिए संघर्ष करना तथा योग्यतम का जीवित रहना, जब कि नैतिकता का अर्थ है, जहाँ तक सम्भव हो, अधिक-से-अधिक लोगों को जीने के योग्य बनाना।" किन्तु बीसवीं शताब्दी में इस जीव-विज्ञान में हुई क्रान्तिकारी प्रगतियों ने मानवीय धरातल पर नैतिकता को विकास से अधिक प्रमुखता प्रदान की है।

एक प्रसिद्ध समकालीन जीव-वैज्ञानिक तथा थॉमस हक्सले के पौत्र सर जूलियन हक्सले 'विकासवादी दृष्टि' पर बोलते हुए विकासवादी प्रक्रिया को आध्यात्मिक उन्मुखता प्रदान करते हैं। (इवॉल्युशन आफटर डार्विन, खंड ३, २१५)

'मनुष्य' का विकास जैविक नहीं, बल्कि मनो-सामाजिक है। यह सांस्कृतिक परम्परा की प्रक्रिया के द्वारा संचालित होता है, जिसके लिए मानसिक क्रिया-कलापों एवं उनके उत्पादनों के संचित आत्म-विकास तथा आत्म-रूपान्तरण की आवश्यकता होती है, तदनुसार दैहिक या जैविक संघटनों की अपेक्षा वैचारिक-ज्ञान, भावों और धारणाओं के मानसिक संघटन के नए प्रमुख प्रतिमानों के भेदन के द्वारा विकास के मानवीय पहलू में मुख्य सोपानों की प्राप्ति होती है।

'महानतर परिपूर्णता' के रूप में, बीसवीं सदी के जीव विज्ञान के क्रान्तिकारी विकास, मानव-विकास के लक्ष्य या मानवीय-स्तर पर विकास के आलोक में विचार करते हुए सर जूलियन हक्सले कहते हैं – "हमारे वर्तमान ज्ञान की दृष्टि में, मनुष्य का सर्वाधिक व्यापक उद्देश्य केवल जीवित

रहने के रूप में नहीं, संख्या–वृद्धि के रूप में नहीं, संघटन की बढ़ती जटिलता के रूप में नहीं या उसके परिवेश पर बढ़ते नियंत्रण में नहीं, बल्कि एक महानतर परिपूर्णता से मानव–जाति द्वारा सामूहिक रूप से तथा इसके अंगभूत सदस्यों द्वारा व्यक्तिगत रूप से, अधिक सम्भावनाओं की पूर्णतर अनुभूति के रूप में देखा जाता है।'' (वहीं, खंड १, पृष्ठ २०) परिपूर्णता की इस अवधारणा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए वकालत करते हुए हक्सले निष्कर्ष निकालते हैं – ''एक बार जब महत्तर परिपूर्णता को मनुष्य के परम उद्देश्य के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है, तब मनो-सामाजिक विकास के लम्बे रास्ते पर, जो हमारे आगे है, मार्गदर्शन करने के लिये हमें मानवीय सम्भावनाओं के विज्ञान की आवश्यकता होगी।'' (वही, पृष्ठ २१)

यही वह मानवीय सम्भावनाओं का विज्ञान, जो विश्व के धर्मों के आध्यात्मिक सारतत्त्व की संस्थापना करता है। यही हमारी उपनिषदों और गीता का प्रमुख मूल विषय है।

नैतिक-बोध का स्वरूप

मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति की प्रथम अभिव्यक्ति इसके नैतिक-बोध, सामाजिक संवेदना, तथा दूसरे व्यक्ति के प्रति वास्तविक चिन्ता में होती है। मानव-जाति का समाज उसकी आध्यात्मिक शिक्षा तथा उसकी आध्यात्मिक उन्नति और विकास का वातावरण बनाता है। मनुष्य स्वाभाविक और सामाजिक इन दो परिवेशों में रहता है, किन्तु अधिकांश लोग केवल प्रथम परिवेश को मानते हैं, दूसरे को नहीं, बल्कि दूसरे परिवेश को प्रथम का उपांग मानते हैं, किन्तु दूसरा कुछ अधिक सुस्पष्ट है। हमलोगों के चारों ओर की प्रकृति अपने तारामय चमकीले आकाश, अपनी नदियों, पर्वतों, पेड़ों, घरों, मेजों और कुर्सियों से प्रथम परिवेश का निर्माण करती है, जिसमें हमलोग अपना जीवन-संचालन करते हैं। मनुष्य अपने प्रयोजनों की सिद्धि के लिए इस परिवेश का उपयोग करता है। यह परिवेश इसी तरह के उपयोग करने के लिए बना है, क्योंकि इसका अपना कोई उद्देश्य नहीं है। एक मेज या टेबल मनुष्य के द्वारा उपयोग किए जाने के लिये ही बनती है। इसी प्रकार घर, पृथ्वी, आकाश, वायु, नदियाँ और पर्वत भी मनुष्य के उपयोग के लिए ही बने हैं। किन्तु दूसरा परिवेश, जिसमें मानव-जीवन है, जिसके बिना मानव जीवन अपने आयामों में प्रारम्भिक स्तर का हो जाएगा, वह है अन्य मानव प्राणियों द्वारा निर्मित सामाजिक परिवेश, मनुष्य की आत्मा की उन्नति के लिए यह एक आवश्यक परिवेश है। किसी आदमी को समाज से दूर ले जाइए, वह आपके नगर के जंगली बालक रामू के समान हो जाएगा। सामाजिक वातावरण में सचेतन सहभागिता के अभाव में वह एक मानव व्यक्तित्व में विकसित नहीं हो पाएगा। इसीलिए सभी नैतिक दर्शनों, सामाजिक और राजनीतिक चिन्तनों में सामाजिक वातावरण के महत्व को मान्यता दी गयी है। सामाजिक परिवेश से क्या तात्पर्य है? मैं एक परिवेश में रहता हूँ, जो केवल प्राकृतिक पदार्थों और प्रक्रियाओं से ही नहीं, बल्कि दूसरे मानव प्राणियों से भी निर्मित है। ये दूसरे मानव प्राणी क्या हैं? यही वह प्रश्न और मनुष्य के द्वारा इस प्रश्न का दिया गया उत्तर है। इस चुनौती का मनुष्य द्वारा दिया गया समुचित उत्तर उसके जीवन को ऐन्द्रिक या शारीरिक स्तर से उठाकर नैतिक और आध्यात्मिक स्तरों पर प्रतिष्ठित कर देता है।

प्रत्येक मनुष्य स्वयं को एक उद्देश्य, एक परम आदर्श का साधन मानता है। यह मानव–अनुभव की अपरिपक्व एवं नैतिक रूप से अपरिष्कृत अवस्था है। मेज़ और अन्य वस्तुएँ विषय हैं, तथा मैं उद्देश्य हूँ। यह भाव कि वस्तुएँ अपने किसी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करती, बल्कि वे उद्देश्य या व्यक्ति के प्रयोजनों की पूर्ति करतीं हैं – इस विचार की मान्यता सांख्य दर्शन में दी गई है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों के अपने भाष्य में इसे उद्धृत किया है – **'संहतानां परार्थत्वात् पुरुषस्य'** – अर्थात् वस्तुएँ जो केवल मूल तत्त्वों की सम्मिश्रण हैं, वे अपने प्रयोजनों को सिद्ध नहीं करतीं, बल्कि वे उद्देश्य यानी मनुष्य के प्रयोजनों की पूर्ति करने के लिए बनी हैं।

सेवा : भाव एवं स्वभाव

अत: नीतिशास्त्र हमारे समक्ष अन्योन्याश्रय का महान सन्देश लेकर आता है। यह घोषणा करता है कि यदि कोई व्यक्ति अपना कल्याण करना चाहता है, तो उसे अन्य मानव-प्राणियों के कल्याण को सुनिश्चित करने का भी अवश्य प्रयास करना चाहिए। जैसा कि गीता (३.११) में उपेदश दिया गया है – **परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ** – 'एक दूसरे की उन्नति और सेवा करते हुए तुमलोग परम कल्याण की प्राप्ति कर सकोगे।' जर्मन दार्शनिक काण्ट ने एक सुन्दर वाक्य में नैतिक-भाव की परिभाषा दी है। वे अपनी 'मेटाफिजिक्स ऑफ मोरल्स' नामक पुस्तक (लंडन, १९०९, पृ. ४७) में कहते हैं –

"इसलिए, स्वयं अपने प्रति या दूसरे के प्रति, सभी क्षेत्रों में मानव के साथ साध्य के रूप में व्यवहार करो, केवल साधन के रूप में कभी नहीं।"

प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में एक ध्येय या साध्य है। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति अपने सह-मानव बन्धु के विषय में एक साधन भी है। इस भाव के आलोक में, अन्तर्मानव सम्बन्धों का अध्ययन मानव के द्वारा मानव के हर प्रकार के शोषण को बिल्कुल अनैतिक और निकृष्ट करार देता है। जब पुरुष ने सामन्ती समाजों में नारी का शोषण किया, तब उसने उसके साथ अपने आप में साध्य के रूप में, एक व्यक्ति के रूप में व्यवहार नहीं किया, बल्कि अपने उद्देश्य की पूर्ति में उपयोगी एक साधन के रूप में व्यवहार किया। ऐसा ही व्यवहार उसने नौकरों, मजदूरों एवं समाज के अन्य वर्ग के लोगों के साथ भी किया। परन्तु आज, अपने लोकतंत्र के सन्दर्भ में, हमें इस अनैतिक कार्यों को उलट देने तथा प्रत्येक व्यक्ति के साथ अपने आपमें एक साध्य के रूप में व्यवहार करने की जरूरत है। इस प्रकार, मानव-विकास को एक नए आयाम में अर्थात् उसके आध्यात्मिक आयाम में विकसित करते हुए, अन्तर्मानव सम्बन्धों का रूपान्तरण हो जाता है। सेवा का भाव और स्वभाव, इस विकास का फल तथा उपफल है। इस भाव और स्वभाव की आध्यात्मिकता कार्यक्षेत्र में सौभाग्य के रूप में अपने को व्यक्त करती है। यह भाव घोषित करता है कि मेरे कार्य के द्वारा दूसरों के लक्ष्य की पूर्ति करना मेरा सौभाग्य है। दूसरों के सुख और कल्याण को बढ़ाने के कार्य में लगकर, पति या पत्नी, माता-पिता या बच्चे, समाज का प्रत्येक सदस्य केवल अपने सुख और कल्याण की वृद्धि ही नहीं करता, बल्कि अपनी आध्यात्मिक उन्नति भी सुनिश्चित कर लेता है।

इन अन्य दो अर्थात् बाह्य प्राकृतिक और सामाजिक परिवेशों के अतिरिक्त एक तीसरा परिवेश, जिसमें मनुष्य रहता है, अर्थात् उसका आन्तरिक परिवेश, उसके आन्तरिक जीवन के संसार को भी प्रदर्शित करता है। इस तीसरे परिवेश पर समुचित ध्यान देकर ही मनुष्य अपने बहिर्जीवन और कार्य के सन्दर्भ में अपनी आध्यात्मिक उन्नति सुनिश्चित करता है। उसके आन्तरिक जीवन का सम्पोषण समर्पण और सेवा के भाव से प्राप्त किया जाता है, जिसके द्वारा वह अपने बाह्य-जीवन और कार्य को अनुप्राणित करता है, तब यह योग में रूपान्तरित हो जाता है, जो बाहरी उत्पादक श्रम द्वारा सामाजिक कल्याण, समर्पण एवं सेवा की आन्तरिक आध्यात्मिक मनोवृत्ति द्वारा आध्यात्मिक कल्याण की दुहरी दक्षता प्राप्त करता है। यह दुहरी दक्षता योग का सन्देश है। गीता (२.५०) के अनुसार **योगः कर्मसु कौशलम्** – कर्म की कुशलता या दक्षता को योग कहते हैं, सस्ती रहस्यात्मकता या चमत्कार को नहीं। अतः किसी भी समाज में सेवा ही अन्तर्मानव सम्बन्ध का एकमात्र तर्कसंगत रूप है, जिसका उद्देश्य जूलियन हक्सले के पूर्व उद्धृत शब्दों में "मानव जाति द्वारा सामूहिक रूप से तथा इसके घटक सदस्यों के द्वारा व्यक्तिगत रूप से अधिकाधिक सम्भावनाओं को पूर्णतर अनुभव प्राप्त करना है।"

सांसारिकता बनाम आध्यात्मिकता

जो भी सभ्यता और संस्कृति मानव जाति ने अब तक प्राप्त की है, वह पुरुषों और स्त्रियों के हृदय में स्थित इन्हीं आध्यात्मिक शक्तियों के प्रकाशन का परिणाम है। मनुष्य तत्त्वतः आध्यात्मिक प्राणी है, किन्तु यह आध्यात्मिकता छिपी पड़ी है, यह अव्यक्त पड़ी है, और हमें अपने जीवन और आचरण के प्रसंग में इसे व्यक्त करना है। तथा एक नैतिक चरित्र बल को विकसित करना है। कोई भी शिक्षा, जो केवल हमारी बुद्धि को तीक्ष्ण करती है एवं हमारी पाशविक बुभुक्षाओं को तीव्र करती है, परन्तु नैतिक चरित्रबल के विकास में सहायता नहीं प्रदान करती, वह मनुष्य और समाज के लिए हानिकारक है। केवल इसी कारण से अनेक सभ्यताएँ विनष्ट हो गईं। हमारा अपना इतिहास ही हमें ऐसे अनेक कालों के बारे में बताता है, जब मनुष्य का नैतिक दृष्टि से अपकर्ष हो गया था। बुद्ध से कुछ ही पहले, भारतीय समाज की अवस्थाएँ एक ऐसे चित्र का उद्घाटन करती हैं, जहाँ उच्च वर्ग के लोग भोग-विलास, आत्म-प्रंशसा एवं निष्प्राण दार्शनिक अटकलबाजियों में आकंठ मग्न हो गये थे तथा निम्न श्रेणी के लोग अज्ञानता, अंधविश्वास एवं गरीबी में डूबे हुए थे। उसी समय भारत ने बुद्ध के समान एक महान उपदेशक को अवतरित किया। उन्होंने देखा कि समाज गतिहीन हो गया है। वह सांसारिकता के पंक में धँसता जा रहा है। तब उन्होंने आध्यात्मिकता तथा त्याग और सेवा के सन्देश का प्रचार किया एवं समाज को प्रगति और समृद्धि के पथ पर संचालित किया। बोधगया में बोधिसत्त्व प्राप्ति के बाद सारनाथ में दिये गए उनके प्रथम प्रवचन का बड़ा ही

सार्थक शीर्षक है। वह शीर्षक है धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र – 'धर्म के चक्र को गतिशीलता प्रदान करने वाला प्रवचन।'

धर्मचक्र परिवर्तन

धर्म का चक्र, समाज का चक्र, संस्कृति का चक्र सांसारिकता के कीचड़ में धँस कर ठीक उसी प्रकार रुक गया था, जिस प्रकार हमारे किसी एक गाँव के पंकिल पथ पर बैलगाड़ी का चक्का धँसकर रुक जाता है। तब गाड़ीवान और दूसरे लोग चक्के में अपना कंधा लगा देते हैं और गाड़ी चलने लगती है। इसी प्रकार, बुद्ध आए, समाज के चक्के में अपना कन्धा लगाया और इसे गतिशील किया। उनसे और उनके भावान्दोलन से नि:सृत आध्यात्मिकता ने समाज को, जो सांसारिकता और अन्धविश्वास के कारण गतिहीन हो गया था, गतिशीलता प्रदान की और बुद्ध के सन्देश में निहित आध्यात्मिकता की गतिशील ऊर्जा ने आगामी हजार वर्षों तक समृद्धि तथा महानता की ओर संचालित किया और भारत के बाहर भी इसका विस्तार किया एवं समग्र एशिया को हमारे महान देश के गहन आध्यात्मिक ऋण से पूर्ण कर दिया। ऐसा हमारे इतिहास में कई बार हुआ है। हमारे लम्बे इतिहास की प्रभावशाली निरन्तरता का यही कारण है। रोमन सभ्यता ने अपनी परवर्ती अवस्थाओं में सांसारिकता की यही गतिहीनता विकसित कर ली थी। जब भोग-विलास एवं सुख-चैन के प्रति अभिरुचि ने इसके अन्य दृष्टि से गुणी नागरिकों की जीवन-शक्ति का रस निचोड़ कर उन्हें दुर्बल कर दिया, तब एक ऐसा समय आया जब रोम के नागरिक कार्य करने के लिए पड़ोसी देशों से लिए गए भाड़े के सैनिकों तथा कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन के लिए दासी एवं अन्य लोगों के कार्य पर निर्भर रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जब विदेशी आक्रमण हुए, तब लोगों में अपने साम्राज्य को बचाने का दृढ़ राष्ट्रीय संकल्प नहीं था। इससे पूरी सभ्यता का पतन हो गया, जिसका फिर कभी उत्थान नहीं हो सका।

समाजोन्मुखी संकल्प-केन्द्रित चरित्र

ये सभी विगत मानव-इतिहास की घटनाएँ हैं, जिनसे हमें शिक्षा और चेतावनियाँ लेनी चाहिए। हमलोग अपनी पावन धरती पर मुट्ठीभर विशिष्ट वर्ग के लोगों से नहीं, बल्कि करोड़ों-करोड़ों अपने सामान्य लोगों से शक्ति प्राप्त कर एक नए राज्य, नए-नए समाज का निर्माण करने की कोशिश कर रहे हैं। यदि हमारे संविधान में इसके बारे में कुछ भी प्रेरणाप्रद है, तो वह यह है कि हमारे सुदीर्घ इतिहास में पहली बार, शिखर पर बैठे मुट्ठीभर अल्पसंख्यक लोगों से नहीं, बल्कि अपने सभी वर्ग, जाति और सम्प्रदाय के लोगों की स्वेच्छापूर्ण सहमति और उसकी शक्ति से अपने राष्ट्र के ढाँचे का हम निर्माण कर रहे हैं। हमारे संविधान की भाषा यह है, हम भारत के नागरिक, अपने को यह संविधान प्रदान कर रहे हैं। हमारे संविधान हमारे राष्ट्रीय स्वप्न और लालसा-आकांक्षा तथा भविष्य में घटने वाली महान घटनाओं की प्रतिश्रुति का मात्र स्थापन या भण्डार है। परन्तु प्रतिश्रुतियों या प्रतिज्ञाओं को कार्य में तथा स्वप्न को कर्म और कर्म की सफलता में रूपान्तरित होने के लिए परिश्रम करना होगा। जब तक हमलोग ईमानदारी, निष्ठा और दक्षतापूर्वक कार्य करना तथा परस्पर सहयोग करना नहीं सीखेंगे, तब तक हम यह कठिन परिश्रम कैसे कर सकते हैं? एक साथ मिलकर काम करने, आपस में एक-दूसरे की सहायता करने के इन सारे भावों के लिए सामूहिक भावना की आवश्यकता होती है, जो जूलियन हक्सले द्वारा उल्लेख किए गए मनो-सामाजिक क्रम-विकास का पहला फल है। यह मनुष्य की आध्यात्मिकता के आरम्भ को, मनुष्य के उच्चतर अहम् की अभिव्यक्ति को सूचित करता है।

इसी को समाजोन्मुखी संकल्प-केन्द्रित चरित्र कहते हैं। चरित्र से आपसी विश्वास, सहयोग, सामूहिक भावना और सर्वांगीण दक्षता का आविर्भाव होता है। अपने चरित्र-बल से मनुष्य स्वयं से परे जाता है और अपना स्नेह दूसरों के हृदय में उड़ेल देता है तथा दूसरों के हृदय से उसकी प्रतिक्रिया में वही स्नेह प्राप्त करता है। अत: चारित्रिक-दक्षता से दृश्य-पट पर एक नए मनुष्य का उद्भव होता है। चरित्र ही पूर्ण स्थायी अन्तर्मानव सम्बन्धों का एकमात्र आधार है। चरित्र हटा दो, तो पूरा सामाजिक ढाँचा ही भहराकर टुकड़े-टुकड़े होकर गिर जाएगा। स्वामी विवेकानन्द ने सत्तर से अधिक वर्षों पूर्व ही भारत में पश्चिमी संस्थाओं, पश्चिमी कार्य-प्रणाली, पश्चिमी जीवन-पद्धति और चारित्रिक-दक्षता, जो उन संस्थाओं की शक्ति का स्रोत है, प्राप्त किए बिना मात्र अनुकरण करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध हमें सावधान किया था। सन् १८९७ ई. में लाहौर के नागरिकों के बीच 'वेदान्त' के विषय पर व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा था – "तुम चाहे हजारों समितियाँ गढ़ लो, चाहे बीस हजार राजनीतिक सम्मेलन

करो, चाहे पचास हजार संस्थाएँ स्थापित करो, इसका कोई फल न होगा, जब तक तुम्हारे भीतर वह सहानुभूति, वह प्रेम नही आएगा, जब तक तुम्हारे भीतर वह हृदय नहीं आएगा, जो सबके लिए सोचता है। जब तक फिर से भारत को बुद्ध का हृदय प्राप्त नहीं होता और भगवान कृष्ण की वाणी व्यावहारिक जीवन में परिणत नहीं की जाती, तब तक हमारे लिए कोई आशा नहीं। तुम लोग यूरोपियनों और उनकी सभा-समितियों का अनुकरण कर रहे हो, परन्तु क्या तुमने उनके हृदय के भावों का अनुकरण किया है? .. यहाँ वह हृदय कहाँ है, जिसकी नींव पर इस जाति की दीवार उठाई जाएगी? हम पाँच लोग मिलकर एक छोटी-सी सम्मिलित पूँजी की कम्पनी खोलते हैं। कुछ दिनों के अन्दर ही हम लोग आपस में एक दूसरे को पट्टी पढ़ाना शुरू कर देते हैं, अन्त में सब कारोबार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। तुम लोग अँग्रजों के अनुकरण की बात कहते हो और उनकी तरह विशाल राष्ट्र का संगठन करना चाहते हो, परन्तु तुम्हारी वह नींव कहाँ है? हमारी नींव बालू की है, इसलिये उस पर जो घर उठाया जाता है, वह थोड़े ही दिनों में टूटकर ध्वस्त हो जाता है।

"अत:, हे लाहौर के युवको ! फिर अद्वैत की वही प्रबल पताका फहराओ, क्योंकि और किसी आधार पर तुम्हारे भीतर वैसा अद्‌भुत प्रेम नहीं पैदा हो सकता। जब तक तुम लोग उसी एक भगवान को सर्वत्र एक ही भाव से अवस्थित नहीं देखते, तब तक तुम्हारे भीतर वैसा अद्‌भुत प्रेम नहीं पैदा हो सकता, उसी प्रेम की पताका फहराओ। उठो, जागो, जब तक लक्ष्य तक नहीं पहुँचते, तब तक मत रुको। उठो, एक बार और उठो, क्योंकि त्याग के बिना कुछ हो नहीं सकता। यदि दूसरे की सहायता करना चाहते हो, तो तुम्हें अपने अहंभाव को छोड़ना होगा। ईसाईयों की भाषा में कहता हूँ – तुम ईश्वर और शैतान की सेवा एक साथ नहीं कर सकते। चाहिए वैराग्य। तुम्हारे पूर्व पुरुषों ने बड़े-बड़े कार्य करने के लिए संसार का त्याग किया था। वर्तमान समय में ऐसे अनेक मनुष्य हैं, जिन्होंने अपनी ही मुक्ति के लिए संसार का त्याग किया है। तुम सब कुछ दूर फेंको, यहाँ तक कि अपनी मुक्ति का विचार भी दूर रखो। जाओ, दूसरों की सहायता करो। तुम सदा बड़ी-बड़ी साहसिक बातें करते हों, परन्तु अब तुम्हारे सामने यह व्यावहारिक वेदान्त रखा गया है। तुम अपने इस तुच्छ जीवन की बलि देने के लिए तैयार हो जाओ। यदि यह जाति बची रहे तो तुम्हारे और हमारे जैसे हजारों आदमियों के भूखे मरने से भी क्या हानि होगी?

यह जाति डूब रही है। लाखों प्राणियों का शाप हमारे सिर पर है, सदा ही अजस्त्र जलधारवाली नदी के समीप रहने पर भी तृष्णा के समय पीने के लिए हमने जिन्हें नाबदान का पानी दिया, उन अगणित लाखों मनुष्यों का, जिनके सामने भोजन का भाण्डार रहते हुए भी जिन्हें हमने भूखों मार डाला, जिन्हें हमने अद्वैतवाद का तत्त्व सुनाया और जिनसे हमने तीव्र घृणा की, जिनके विरोध में हमने लोकाचार का आविष्कार किया, जिनसे मुख से तो कहा कि सभी समान हैं, सब वही एक ब्रह्म हैं, परन्तु इस उक्ति को काम में लाने का तिल मात्र भी प्रयत्न नहीं किया। .. अपने चरित्र का यह दाग मिटा दो। उठो, जागो। यदि यह क्षुद्र जीवन चला भी जाय, तो क्या हानि है? साधु या पापी, धनी या दरिद्र, सभी मरेंगे। चिरकाल तक किसी का शरीर नहीं रहेगा। अत: उठो, जागो और सम्पूर्ण रूप से निष्कपट बनो। भारत में घोर कपट समा गया है। चरित्र चाहिए, इस तरह की दृढ़ता और चारित्रिक बल चाहिए, जिससे मनुष्य आजीवन दृढ़व्रती बन सके।" (विवेकानन्द सा. खंड-५, २रा संस्करण, पृ.-३१९-२१)

गृहस्थ का नागरिक रूप में विकसित होना

ऐसी शिक्षा और ऐसे धर्म का पहला फल है सेवा। इस (शिक्षा और धर्म) से सेवा स्वत: स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होती है। इसमें त्याग करने के लिये बाध्य होने का भाव नहीं होता और इसके सहारे के लिए किसी विशेष बाहरी प्रलोभन की अपेक्षा भी नहीं होती। इसमें हम मनुष्य के आध्यात्मिक विकास तथा दैहिक स्तर से परे क्रमविकास के गतिशील आभियान को स्पष्टतया परिलक्षित करते हैं। जहाँ यह गतिशील क्रमविकास की क्रिया नहीं होती है, वहाँ मानव जीवन सांसारिकता में अटक जाता है और गतिहीन हो जाता है। वेदान्त के अनुसार ऐसी गतिहीनता मृत्यु है तथा शारीरिक मृत्यु की अपेक्षा इस मृत्यु से अधिक भयभीत होना चाहिए। श्रीरामकृष्ण हमें इस आध्यात्मिक मृत्यु के पाश से बचने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं – "संसार में रहो, किन्तु संसार को अपने भीतर नहीं आने दो। वह तुम्हें गतिहीन कर देगा। नाव पानी में रह सकती है, क्योंकि यही उसकी स्वाभाविक जगह है, किन्तु पानी को नाव के भीतर नहीं आने देना चाहिए, क्योंकि इसके

भीतर का पानी इसकी सार्थकता समाप्त कर देगा।''

इस जीवन्त उपदेश के द्वारा श्रीरामकृष्ण ने सामाजिक आचार और व्यावहारिक धर्म के सम्पूर्ण सन्देश को निचोड़ कर प्रस्तुत कर दिया है। यह जैविक और शारीरिक स्तर पर निर्भर पुरुष या स्त्री को नागरिकता की, आध्यात्मिकता की स्वाधीनता और विस्तार में विकसित होने को प्रेरित करता है। यह विकास त्याग और सेवा के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करता है। ऐसे पुरुषों और स्त्रियों को अधिकाधिक संख्या में अपने समाज में हमें आज एकत्र करना है। जब हम ऐसा करेंगे, तभी हम अपने राष्ट्र के नये लोकतांत्रिक ढाँचे की नींव चट्टान पर खड़ी कर सकेंगे। परन्तु आज इसके आधार के लिये इसे केवल बालू की राशि ही उपलब्ध है। यह निश्चित है कि जैसा ईसा मसीह ने अपनी नीति-कथा में कहा है, 'रेत पर खड़ी की गई इमारत टिक नहीं सकती।' (मैथ्यू, ७, २४-२७)

आज हमें यही प्रश्न पूछना है कि हम अपने भारत के राष्ट्रीय जीवन का ढाँचा किस नींव पर खड़ा करना चाहते हैं? वह ढाँचा शैक्षणिक विस्तारों, वैज्ञानिक अनुसंधान, वैज्ञानिक एवं कृषि विकास, प्रतिरक्षा और समाज-कल्याण के क्षेत्रों में हमारे सशक्त विकासात्मक कार्यक्रमों के द्वारा पहले से ही यत्र-तत्र-सर्वत्र खड़ा हो रहा है। अगले बीस या पच्चीस वर्षों के भीतर हमलोग अपनी अनेक सामाजिक समस्याओं, जिस परिवेश में मनुष्य रह रहा है, उससे जुड़ी समस्याओं का समाधान कर चुके होंगे। किन्तु जैसे ही हम अपनी परिवेशगत समस्याओं के समाधान के आगे बढ़ेंगे, एक समस्या समाधान के लिए बची रह जाएगी, और वह कहीं अधिक असाध्य समस्या हो जाएगी। यह समस्या उस महान यक्ष-प्रश्न से जुड़ी हुई है कि इन सारे विकासों से किस प्रकार का मनुष्य निकलेगा? क्या वह एक चालाक, कुटिल या धूर्त व्यक्ति होने जा रहा है, जिसका बढ़ा हुआ ज्ञान अन्य लोगों के शोषण का कारण बन जाता है? क्या वह एक ऐसा सांसारिक व्यक्ति होगा, जिसका गुरुत्व-केन्द्र सदैव उसके बाहर होता है तथा जो ऐन्द्रिक सन्तुष्टियों के संसार में ही आबद्ध हो गया है? अथवा उसे मनो-सामाजिक स्तरों पर अपने विकास क्रम को जारी रखते हुए एक गतिशील व्यक्ति होना है, जो उच्चतर मूल्यों के प्रति संवेदनशील होता है तथा उन मूल्यों को कार्य में परिणत करने के लिए प्रयत्न करता है और जिसने अपने व्यक्तित्व की विविध शक्तियों का त्रिविध एकीकरण कर लिया है अथवा उसके लिए प्रयत्न कर रहा है?

समाज की इस प्रमुख समस्या, जैसे मनुष्य की विशिष्टता या श्रेष्ठता की समस्या के समाधान में अभी से हमें जुट जाना चाहिए। उदीयमान भारत में हम जिस प्रकार के पुरुषों और स्त्रियों को देखना चाहते हैं, उनके निर्माण में हमें अभी से लग जाना चाहिए। यदि भारत को अपने गौरवशाली अतीत को और अधिक गरिमामय भविष्य में ले जाना है, तो भारत को अपने निजी परम्परागत स्थायी तत्त्वों का पश्चिमी परम्परा के उत्कृष्टतम तत्त्वों के साथ संश्लेषण अर्थात् समन्वय करना होगा। पूरब और पश्चिम का यह सम्मिलन स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व में व्यापक रूप से रूपायित हुआ था। भारतीय नागरिक स्त्री या पुरुष को अपने में एक विशेष मात्रा में इस सम्मिलन को लाना होगा। विवेकानन्द इस दिशा में प्रयास करने के लिए प्रत्येक भारतीय का आह्वान करते हैं – ''क्या समता, स्वतंत्रता, कार्य-कौशल, पौरुष में तुम पाश्चात्यों के भी गुरु बन सकते हो? क्या उसी के साथ-साथ धर्म, आस्था, विश्वास, संस्कृति और स्वाभाविक वृत्ति में हिन्दुओं की परम मर्यादा पर दृढ़ रह सकते हो? यह काम करना है और हम इसे करेंगे ही। तुम सबने इसी के लिए जन्म लिया है। अपने में विश्वास रखो। महान विश्वास महान कार्यों के जनक है। हमेशा बढ़ते चलो। मरते दम तक गरीबों और पददलितों के लिए सहानुभूति यही हमारा आदर्श-वाक्य है।'' (विवेकानन्द सा., खण्ड-२, द्वितीय संस्करण, पृ. २२१-२२)

मनुष्य की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कैसी भव्य दृष्टि यहाँ प्रस्तुत की गई है ! प्रत्येक भारतीय पुरुष या स्त्री नागरिक को अपनी क्षमतानुसार इस दृष्टि को अपने में समाविष्ट करने की चेष्टा अवश्य करनी चाहिए। यह दृष्टि कुछ लोग अधिक प्राप्त कर सकते हैं और कुछ लोग कम। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को मानव की श्रेष्ठता का एक सामान्य आदर्श होना चाहिए जिसकी ओर वह आगे बढ़ता रहेगा। यह आदर्श राष्ट्रीय ऊर्जाओं और उद्देश्यों को एक स्वस्थ दिशा प्रदान करेगा। तब इससे नागरिक का आत्म-विस्मरण और विध्वंसक होना समाप्त हो जाएगा तथा वह गतिशील और सृजनात्मक हो जाएगा। तब आज की भाँति अपनी विवेकशून्य गतियों के डगमगाते कदमों के विपरीत संतुलित कदमों और सुनिश्चित तथा दृष्टि के साथ भारत का अभियान शुरु होगा।

आज भारत के संप्रभुता-सम्पन्न लोकतांत्रिक गणतंत्र में नागरिकता की ये सुविधा और सुयोग हैं। यह नागरिकता

जाति, सम्प्रदाय, व्यवसाय, लिंग या सामाजिक पद-प्रतिष्ठा पर आधारित सारे भेदों को मिटा डालती है। यह नागरिकता ही भारत के समस्त पचपन करोड़ लोगों के लिए एकता, निष्ठा और सेवा का केन्द्र बिन्दु है। भारत में किसी भी व्यक्ति का मूलभूत तथा अहस्तान्तरणीय व्यक्तित्व उसकी भारत की नागरिकता ही है। उसके व्यक्तित्व का हर एक अन्य पहलू गौण है, लेकिन भारतीय नागरिकता उसके व्यक्तित्व का मुख्य और मौलिक पहलू है। कोई एक व्यक्ति खेतिहर-किसान हो सकता है, दूसरा व्यक्ति मोची, एक व्यक्ति प्रशासक हो सकता है, दूसरा एक औद्योगिक मजदूर, एक व्यक्ति राष्ट्रपति हो सकता है, दूसरा विद्यालय का एक साधारण शिक्षक, ये सभी अन्य-संक्रमित किये जा सकते हैं तथा बदले जा सकते हैं। किन्तु इनमें से प्रत्येक व्यक्ति पुरुष या नारी स्वाधीन भारत की अपनी नागरिकता में एक-दूसरे से सम्पूर्णत: एवं अनिवार्य रूप से संयुक्त है। ये सब मात्र विविध प्रकार के कार्य हैं, जिन्हें नागरिक अपने लिए चुनते हैं अथवा अपनी नागरिकता के विशेषाधिकार और दायित्व को पूरा कने के लिए वे आमंत्रित किये जाते हैं। इस दृष्टि से, मोची से लेकर प्रधानमंत्री तक के सारे कार्य सेवा में, राष्ट्र की सेवा में रूपान्तरित हो जाते हैं। यह दृष्टि इनमें से प्रत्येक को राष्ट्रीय महत्व का व्यक्ति मानती है। एक साधारण गृहिणी कुशलता पूर्वक अपनी गृहस्थी चलाकर, अपनी क्षमताओं और सीमाओं के अनुसार राष्ट्रीय कार्यों में भाग लेकर तथा अपने बच्चों को नागरिकता के सद्‌गुणों और सुन्दरता में प्रशिक्षित कर एक नागरिक के रूप में अपने राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों का निर्वाह करती है। नागरिकता अपने में सामाजिक दायित्व के भाव को, अपने चारों ओर फैले समाज के दुख-सुख में अपनी सचेतन सहभागिता के द्वारा अपने सीमित जैविक व्यक्तित्व से ऊपर उठने के संकल्प को समाविष्ट करती है।

यही मनुष्य का आध्यात्मिक विकास है। वेदान्त की दृष्टि में नागरिकता की यह आधुनिक अवधारणा मुख्य रूप से एक आध्यात्मिक अवधारणा है, क्योंकि यह मनुष्य को उसके सीमित अहं से निकाल कर नैतिक-बोध और सामाजिक संवेदना की अनुभूति के क्षेत्र में ले जाती है। ऐसी सचेतन सामाजिक सहभागिता के द्वारा शारीरिक दृष्टि से प्रतिबन्धित एक निरा व्यक्ति एक व्यक्तित्व में रूपान्तरित हो जाता है। एक निरा गृहस्थ एक नागरिक हो जाता है। इस प्रकार वह दैहिक और जैविक भाव से परे अपने बोध, पहचान और संवेदना का विस्तार व्यक्त करता है। तब उस पुरुष अथवा स्त्री में नागरिकता के राजनैतिक एवं नैतिक आदर्श आध्यात्मिकता अर्थात व्यावहारिक वेदान्त की अध्यात्मपूर्ण मानवीय अनुभूति से मिलकर एक हो जाते हैं। यही गीता का मुख्य सन्देश है। नागरिकता के केवल इसी बल-बूते पर तथा इस नागरिकता के द्वारा सुरक्षित की गई चारित्रिक विशिष्टता के बल पर हम अपने लोकतांत्रिक राज्य का महल मजबूत कर सकते हैं तथा अपने महान संविधान की ठठरी में हाड़-मांस जोड़ सकते हैं।

मानव-गरिमा का वास्तविक आधार

इसलिए, हममें से प्रत्येक व्यक्ति, चाहे हम किसी भी कार्य-क्षेत्र में क्यों न लगे हों, सामान्यतया भारत के एक नागरिक हैं। अन्तर्मानव सम्बन्ध का एकमात्र रूप सेवा ही है। चाहे हम भले ही प्रशासक, डॉक्टर, वकील अभियन्ता, मंत्री, विधायक, शिक्षक, गृहिणी, उद्योगपति या मजदूर क्यों न हों, हमें सदैव याद रखना चाहिए कि हमारा मूल व्यक्तित्व स्वाधीन भारत की हमारी नागरिकता है तथा ये सारे कार्य हम उस नागरिक दायित्व के निर्वाह के लिए करते हैं। इस प्रकार जीविकोपार्जन राष्ट्रीय दायित्व के निर्वाह का अभिन्न अंग हो जाता है तथा इस राष्ट्रीय दायित्व के अधीनस्थ रहता है। यह प्रवृत्ति तुरन्त हमारे सभी कार्यों को सेवा में अथवा वेदान्त की भाषा में, सभी कार्यों को उपासना में, नर में नारायण की उपासना में, विराट की उपासना में रूपान्तरित कर देती है। सड़क के किनारे बैठा एक साधारण मोची और सचिवालय में बैठा हुआ एक शक्तिशाली प्रशासक, दोनों ही समान रूप से समाज की सेवा में लगे हैं। केवल प्रत्येक व्यक्ति को इस सच्चाई का बोध करा देना है। यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक व्यक्ति, पुरुष या स्त्री अपनी वास्तविक गरिमा और महत्त्व का अनुभव करने लगता है। कोई कार्य अपने आप में बड़ा या छोटा नहीं है। केवल कार्य का हमारा प्रयोजन उसे ऊँच या नीच बनाता है। भक्ति-भाव के अभाव में मन्दिर के पुजारी का कार्य नीच कर्म हो जाता है। राष्ट्रीय सेवा का भाव रहने पर किसान या कारखाने के मजदूर का कार्य उच्च कार्य हो जाता है। केवल वेतन, उज्जवल भविष्य की आशा और प्रोन्नति के भाव से प्रेरित होकर कार्य करने पर प्रशासक का कार्य निम्न कोटी का, गतिहीन नीरस और साधारण हो जाता है। परन्तु जब उसका कार्य राष्ट्रीय समर्पण और सेवा के भाव से प्रदीप्त हो उठता है, तब वही कार्य उच्च और महान हो जाता है।

इसीलिए, सेवा का भाव, सांसारिक दृष्टि से छोटे या बड़े सभी कार्यों को, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च कार्यों में उन्नत कर डालता है। क्योंकि संक्षेप में, वह भाव सभी कार्यों के पीछे रहनेवाले कार्यकर्ता को आध्यात्मिकता के उच्च स्तर पर, उस स्तर पर उठा देता है, जहाँ मनुष्य अपने जीवन में एक गुणात्मक विकास को प्राप्त करता है।

अतएव, सेवा का मनोभाव एक विश्वव्यापक वातावरण हो जाता है, जिसमें सम्पूर्ण मानव जीवन और कार्य आध्यात्मिक हो जाते हैं। यही वह रूपान्तरण है, जिससे जीवन और कार्य दर्शन के आलोक में संचालित होते हैं। आज भारत में हमें इसी दर्शन से अनुप्राणित होने की जरूरत है। यही दर्शन भारत को सबल बनाएगा, इसे राष्ट्रीय एकात्मकता तथा सर्वतोमुखी राष्ट्रीय दक्षता की ओर ले जाएगा। यह दर्शन भारत को उच्च मानव-वैशिष्ट्य की दृष्टि प्रदान करेगा तथा इसे जीवन और आचरण में क्रियान्वित करने को प्रेरित करेगा। किसी राष्ट्र की शक्ति का वास्तविक आधार प्रज्ञा या रचनात्मक बुद्धि से सम्पन्न इसी प्रकार के नर नारियों में निहित है, इसके कोषागार, इसकी सुरक्षा व्यवस्था अथवा इसके विदेशी मित्रों में नहीं है। महाभारत में विदुर कहते हैं, '**यत् बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञा बलम् उच्यते**।'

उपसंहार

अतएव 'मानव सेवा का दर्शन' – यह विषय हमारे विश्वविद्यालयों के नीरस एवं उबाऊ पाठ्यक्रम में मात्र सैद्धान्तिक शास्त्रीय विवेचन के लिए नहीं है। इसे हमारी जनसंख्या के सभी वर्गों के लोगों के मन और मस्तिष्क में आलोड़ित एवं अनुप्राणित कर देना चाहिए। इसी से देश को वह आवश्यक शक्ति मिलेगी जिससे वह अपने ऊपर अपने क्रान्तिकारी संक्रान्ति काल के द्वारा बार-बार डाली जानेवाली चुनौतियों का उपयुक्त रूप से उत्तर देने में सफल हो जाता है। तब वह न केवल अपने लिए बल्कि सम्पूर्ण मानवजाति के लिए आशा का आकाशदीप हो जाएगा। अपने लम्बे इतिहास में, अपनी राष्ट्रीय नियति में इसी विश्वास के साथ आज से आगे जीवन और कार्यकलाप के अपने-अपने क्षेत्रों में हमलोग आशा और साहस के साथ प्रवेश करें। ○○○

(स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के तेरहवें संघाध्यक्ष थे।)

सबके मन में है भगवान

शकुन्तला शर्मा, भिलाई

कर्म-योग की महिमा-अद्भुत कर्मानुरूप मिलता है फल।
शुभकर्मों का फल भी शुभ है आज नहीं तो निश्चय कल।।

परमात्मा है सब के भीतर हम सब हैं उसकी सन्तान।
हमसे अलग नहीं है वह भी सबके मन है भगवान।।

सत्पथ-पर हम चलते जाएँ मंजिल हमें जरूर मिलेगी।
भलेही रातअमावश की हो सुबह कमल की कली खिलेगी।।

सर्वव्याप्त है वह परमात्मा वह ही है प्राणों का प्राण।
मेरे मुख से वह कहता है सबके मन में है भगवान।।

वसुधा है परिवार हमारा आओ निज कर्तव्य निभायें।
परहित में ही हित है मेरा यही बात सबको समझायें।।

मानव-जीवन अति दुर्लभ है यह प्रभु की सुन्दरतम रचना।
तुम सबको सुख देते रहना परपीड़ा से बचते रहना।।

प्रेम में बसता है परमात्मा प्रेम ही है उसकी पहचान।
सभी परस्पर प्रेम करें हम-सबके मन में है भगवान।।

कण-कण में है वास प्रभु का वह सब कर्मों का साक्षी है।
प्रेम का पाठ पढ़ाता सबको घट-घट का वह ही वासी है।।

कर्मप्रधान विश्व यह अद्भुत इसकी महिमा को हम जानें।
सबके सुख की बात करें हम सबकी पीड़ा को पहचानें।।

दिव्य-गुणों का वह स्वामी है देता है सब को अनुदान।
भाव का भूखा वह परमात्मा सबके मन में है भगवान।।

सहज सरल व्यवहार हमारा परमात्मा को प्यारा लगता।
वह भी उसको दंडित करता जब अपनों को कोई ठगता।।

मन में उज्ज्वल भाव सदा ही जीवन बन जाए वरदान।
सत्पथ पर हम चलें निरन्तर सबके मन में है भगवान।।

अमर है आत्मा परमात्मा भी काया है सबकी नाशवान।
इससे स्वयं-सिद्ध होता है सबके मन में है भगवान।।

सेवामूर्ति श्रीरामकृष्ण परमहंस

स्वामी आत्मानन्द

विश्व के आध्यात्मिक इतिहास में श्रीरामकृष्ण परमहंस का स्थान अतुलनीय है। उनके जीवन में आध्यात्मिक अनुभूतियों की जितनी विविधता दिखायी देती है, उतनी और किसी महापुरुष के जीवन में दृष्टिगोचर नहीं होती। उनका जीवन मानो धर्म और अध्यात्म की एक विराट प्रयोगशाला था, जहाँ अनेक नवीन भावों का आविष्करण और पुरस्करण सम्पन्न हुआ था। उनके जीवन के द्वारा प्रकट सेवाभाव उनकी इन्हीं आध्यात्मिक अनुभूतियों का बाहरी प्रकाश था।

श्रीरामकृष्ण परमहंस निर्विकल्प समाधि की उपलब्धि कर अद्वैतानुभूति में प्रतिष्ठित हो गए थे। फलस्वरूप, सर्वत्र उन्हें उसी एक आत्मज्योति के दर्शन होते थे। उनकी यह एकत्वानुभूति इतनी तीव्र और गहरी थी कि किसी व्यक्ति के द्वारा हरी-हरी दूब को रौंदते हुए चलने पर उन्हें लगा कि वह उनकी छाती को ही रौंदते हुए चला जा रहा है। दो माझियों में लड़ाई हो जाने से एक ने दूसरे की पीठ पर जोरों से तमाचा जड़ दिया। श्रीरामकृष्ण को ऐसा लगा कि वह तमाचा उन्हें ही लगा है और वे पीड़ा से कराह उठे। इनकी पीठ पर अंगुलियों के निशान उभर आए, मानो माझी ने उन्हीं की पीठ पर तमाचा मारा हो।

ये घटनाएँ अविश्वसनीय होने पर भी सत्य हैं। श्रीरामकृष्ण का सेवाभाव उनके इसी एकत्वानुभव पर खड़ा था। वेदान्त दर्शन का सर्वोच्च लक्ष्य यही एकत्वानुभूति है। श्रीरामकृष्ण ने वेदान्त को अपने जीवन में उतार कर यह प्रदर्शित कर दिया कि वह केवल बुद्धि का व्यायाम नहीं है, केवल तर्कों और युक्तिविचारों का जाल नहीं है, बल्कि जीवन का अनुभूतिगम्य सत्य है। उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि वेदान्त को व्यावहारिक बनाया जा सकता है, इस व्यावहारिक वेदान्त को उन्होंने 'सेवा' के नाम से पुकारा। उनका तर्क यह था कि जब सारा संसार उसी ईश्वर से निकला है, उसी में प्रतिष्ठित है और एक दिन उसी में लीन हो जाएगा, तो फिर ईश्वर छोड़ संसार में और क्या है? इसका यही तात्पर्य हुआ कि वही ईश्वर, जो मुझमें समाया है एक पीड़ित के भीतर भी छिपा है। तो क्या यह उचित नहीं कि हम पीड़ित में निहित उस ईश्वर की सेवा के लिए आगे बढ़ आएँ? जो ईश्वर पर विश्वास करता हुआ भी दुखी के भीतर विराजमान ईश्वर की सेवा के लिए चेष्टाशील नहीं है, श्रीरामकृष्ण की दृष्टि में उस व्यक्ति का ईश्वर में विश्वास होना या न होना बराबर है। इस दृष्टि से उन्होंने सेवा पर एक नया प्रकाश डाला और इस प्रकार उसे दया से भिन्न कर दिया।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "सारी उपासना का सार है – पवित्र होना और दूसरों की भलाई करना। जो शिव को दीन हीन में, दुर्बल में और रोगी में देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है, और जो शिव को केवल मूर्ति में देखता है, उसकी उपासना तो केवल प्रारम्भिक है। जो मनुष्य शिव को केवल मन्दिरों में देखता है, उसकी अपेक्षा शिव उस व्यक्ति पर अधिक प्रसन्न होते हैं, जिसने बिना किसी प्रकार जाति, धर्म या सम्प्रदाय का विचार किये, एक दीन-हीन में शिव को देखते हुए, उसकी सेवा और सहायता की है।"

स्वामी विवेकानन्द ने सेवा की अपनी प्रेरणा अपने गुरुदेव से प्राप्त की थी। श्रीरामकृष्ण का जीवन ही सेवामय था, वे सही अर्थों में सेवामूर्ति थे। अन्तिम समय में जब उन्हें गले का कैंसर हो गया था और चिकित्सकों ने उन्हें बोलने से मना किया था, तब भी वे आगत जिज्ञासुओं से वार्तालाप करना बन्द न करते। सेवकों और भक्तों के अधिक निषेध करने पर कहते, 'यदि एक व्यक्ति को सहायता करने के लिए मुझे बीस हजार जन्म लेने पड़ें तो स्वीकार है। सेवा की उनकी यह आन्तरिकता उनके सर्वात्मबोध पर प्रतिष्ठित थी, जिसका बड़ा ही मार्मिक परिचय हमें उनके जीवन की एक घटना से मिलता है।

पंडित शशधर शास्त्री तर्कचूड़ामणि श्रीरामकृष्ण की अस्वस्थता का समाचार सुन उन्हें देखने आए। शास्त्री का नाम उनकी विद्वता और पाण्डित्य के लिए बंगाल भर में विख्यात था। तब श्रीरामकृष्ण गले के रोग के कारण अन्न ग्रहण नहीं कर सकते थे। उन्हें तीव्र वेदना हुआ करती। शास्त्री जी ने उन्हें सुझाव दिया, 'महाराज हमारे योगशास्त्रों का कथन है कि यदि योगी अपने किसी रुग्ण अंग पर मन केन्द्रित करे, तो उससे अंग स्वस्थ हो जाता है। आप तो महान योगी हैं। आप क्यों नहीं अपने मन को गले पर एकाग्र करके रोग को ठीक कर लेते? इस पर श्रीरामकृष्ण

ने कुछ खीझ कर कहा, 'कैसे पण्डित हो जी ! जिस मन को मैंने जगदम्बा के पादपद्मों में समर्पित कर दिया है, तुम कहते हो कि उसे मैं वहाँ से वापस ले लूँ और इस हाड़-मांस के सड़-गले पिण्ड पर लगा दूँ। ऐसी बात कहते तुम्हें लज्जा नहीं आती?' और सचमुच शास्त्रीजी लज्जित हो गये। उन्होंने क्षमायाचना कर कुछ समय बाद श्रीरामकृष्ण से बिदा ली। शास्त्रीजी के जाने के बाद नरेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्ण को पकड़ा, कहा, 'महाराज, शास्त्रीजी ने तो ठीक ही कहा। आपको इतना कष्ट है, आप कुछ खा-पी नहीं सकते, इसलिए हमलोग भी अत्यन्त दु:खी हैं। आप कम-से-कम हमलोगों के लिए अपने मन को गले पर केन्द्रित कीजिए न !' श्रीरामकृष्ण बोले, 'आखिर तू भी वही कहता है रे, मैं यह नहीं कर सकता।' पर जब नरेन्द्र ने खूब जोर दिया, तो उन्होंने कहा, 'मैं कुछ नहीं जानता, माँ जगदम्बा जैसा करेंगी, वैसा होगा।' नरेन्द्र ने इस पर कहा, 'महाराज' आप जो कहेंगे, सो जगदम्बा करेंगी। आप हमलोगों के लिए माँ से कहिए न।' लाचार हो श्रीरामकृष्ण ने कहा, 'ठीक है, देखूँगा।' थोड़ी देर बाद नरेन्द्र ने आकर पूछा, 'महाराज, आपने हमारी बात माँ से कही थी।' वे उत्तर में बोले, हाँ, मैंने माँ से कहा – माँ, नरेन कहता है कि इस रोग के कारण मैं कुछ खा-पी नहीं सकता हूँ, इसलिए इन लोगों को बहुत कष्ट होता है। मैं तुझसे इस रोग को ठीक कर देने के लिए कहुँ, जिससे मैं कुछ खा-पी सकूँ, ताकि ये लोग भी सुखी हो।' तो फिर माँ ने क्या कहा, महाराज ! नरेन्द्र अत्यन्त उत्सुक हो उनकी बात को बीच में ही काटकर बोल उठे। 'क्या बताऊँ रे' श्रीरामकृष्ण ने मानो सोच में पड़कर कहा, 'माँ ने मेरी बात सुनकर तुम सब लोगों को इशारे से दिखाकर मुझसे कहा – क्या तू इतने मुखों से नहीं खाता, जो तुझे खाने के लिए अलग से मुँह चाहिए। यह सुनकर मैं तो चुप हो गया। अब तू ही बता, इसका मैं माँ को भला क्या उत्तर देता !' श्रीरामकृष्ण की ऐसी व्यापक अनुभूति को देखकर नरेन्द्रनाथ भी निरुत्तर हो गए, उनके मुख से कोई शब्द नहीं निकला।

सन् १८८४ ई. की घटना है। श्रीरामकृष्ण देव दक्षिणेश्वर स्थित काली मन्दिर के अपने कमरे में भक्तों से घिरे बैठे हुए थे। नरेन्द्र भी वहाँ उपस्थित थे, जो बाद में स्वामी विवेकानन्द के नाम से विश्वविख्यात हुए। वार्तालाप के प्रसंग में वैष्णव-मत की बात उठी। इस मत के सारे तत्त्व को संक्षेप में व्यक्त करते हुए श्रीरामकृष्ण बोले 'इसके अनुसार ये तीन बातें नित्य करणीय हैं – नाम में रुचि, जीव पर दया, वैष्णव की सेवा। जो नाम है, वही ईश्वर है, नाम और नामी को अभिन्न जानकर सर्वदा अनुरागपूर्वक नाम जपना चाहिए, भक्त और भगवान, कृष्ण और वैष्णव को अभिन्न जानकर सर्वदा साधु-भक्तों के प्रति श्रद्धा और उनकी सेवा करनी चाहिए तथा यह सारा विश्व कृष्ण का ही है, ऐसा समझकर सब जीवों पर दया – 'सब जीवों पर दया' इतना कहकर ही श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गये। वे वाक्य को पूरा भी न कर पाये। कुछ समय पश्चात् जब उनकी अर्धचेतना लौटी, तो वे कहने लगे, 'जीवों पर दया – जीवों पर दया ! दूर हो मूर्ख ! तू कीटाणुकीट ! जीवों पर दया करेगा ! दया करने वाला तू होता कौन है? नहीं – जीवों पर दया नहीं – शिवज्ञान से जीवों की सेवा।'

नरेन्द्र यह सुनते ही आश्चर्यचकित हो गए। उन्हें लगा कि 'दया' और 'सेवा' का ऐसा अन्तर सम्भवत: पहले किसी ने नहीं किया था। 'दया' कहने से प्रतीत होता है मानो दया करने वाला बड़ा है और जिस पर दया की जा रही है, वह छोटा। इस प्रकार दया की प्रक्रिया ऊँच और नीच के भेद को बनाये रखकर चलती है। किन्तु 'सेवा' कहने से, 'शिव ज्ञान से जीवों की सेवा' कहने से बोध होता है कि वही शिव जो स्वयं सेवा करनेवाले के भीतर विराजमान हैं और उसके भीतर भी बसे हुए हैं जिसकी सेवा की जा रही है। इस प्रकार यहाँ भेद का नहीं, अभेद का प्रकाश है, ऊँच-नीच का नहीं समानता का व्यवहार है।

ये वही नरेन्द्रनाथ थे, जो निर्विकल्प समाधि के आनन्द में डूबे रहना चाहते थे। पहले उन्हें सेवा आदि की बात अच्छी नहीं लगती थी। एक समय जब वे समाधि में डूबने के लिए अत्यन्त व्याकुल थे, तो श्रीरामकृष्ण ने उन्हें एकान्त में बुलाकर स्नेहपूर्वक पूछा था, 'नरेन, तू क्या चाहता है? इस पर नरेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया था, "महाराज, आशीर्वाद दीजिए कि मैं योगी शुकदेव की भाँति निर्विकल्प समाधि के आनन्द में अहर्निश डूबा रहूँ और जब समाधि से उतरूँ, तो शरीर को बचाने के लिए थोड़ा-सा अन्न पेट में डाल लूँ और फिर से समाधि में डूब जाऊँ।" पर यह सुन श्रीरामकृष्ण प्रसन्न नहीं हुए, अपितु उन्होंने नरेन्द्र का तिरस्कार करते हुए कहा था, "छि: छि;

(शेष भाग ५२४ पृष्ठ पर)

सार्थक जीवन का रहस्य : सेवा

स्वामी सत्यरूपानन्द

संसार पर यदि हम एक विहंगम दृष्टि डालें, तो हम पाएँगे कि प्रत्येक प्राणी का जीवन दूसरे की सेवा पर निर्भर है। जन्म के पश्चात उसे जीवित रहने के लिए कुछ दिनों, महीनों या वर्षों तक उसे उसकी जन्मदात्री माँ की नितान्त आवश्यकता रहती है। यदि उसकी माँ उस बच्चे के बड़े होने तक उसकी देख-रेख न करे, तो उसकी मृत्यु अनिवार्य है।

मनुष्य भी इसका अपवाद नहीं है। हमारे जन्म के पश्चात् हमारी जननी ने हमें दूध पिलाया, हमारी सब प्रकार से देख-रेख की, हमें नहलाया-धुलाया, सुलाया, हमारा टट्टी-पेशाब साफ किया। यदि हम अस्वस्थ हो गये, तो हमें डॉक्टर को दिखाकर हमारी चिकित्सा कराई, दवा-पानी दिया तथा और भी विभिन्न प्रकारों से हमारी सेवा की तथा हमें बड़ा किया। यदि हमारी माँ या उसके अभाव में कोई दूसरा व्यक्ति हमारी सेवा नहीं करता तो हमारी मृत्यु निश्चित थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी प्राणी का जीवन जन्म से ही दूसरे की सहायता पर निर्भर है। उसे अपने अस्तित्व को बचाने के लिए, उसे जीवित रहने के लिए किसी दूसरे की सेवा या सहायता की नितान्त आवश्यकता होती है। बड़े होने पर यही सेवा हमारे जीवन की रक्षा तथा उन्नति के लिये भी अनिवार्य एवं अपरिहार्य होती है।

संक्षेप में हमने सेवा की अनिवार्यता पर विचार किया। एक प्रकार से यह सेवा का भौतिक पक्ष है। किन्तु सेवा इतनी सीमित तथा संकुचित नहीं है। सेवा के आयाम इससे बहुत अधिक बड़े एवं विस्तृत हैं। सेवा केवल हमारे भौतिक जीवन तक ही सीमित नहीं है, सेवा का क्षेत्र हमारे जीवन के सर्वांगीण विकास यहाँ तक कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति एवं मुक्ति तक में सहायक है। सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में यदि निःस्वार्थ भाव से सेवा की जाय, तो वह हमें जीवन के परम कल्याण तक पहुँचा सकती है।

आइये, अब सेवा के नैतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष पर भी संक्षेप में थोड़ा विचार कर लें।

हमारा परिवार सेवा की दृढ़ नींव पर ही खड़ा रहता है। जब हम छोटे रहते हैं, तो परिवार के हमारे माता-पिता, दादा-दादी, भाई-बहन तथा दूसरे सगे सम्बन्धी हमारी सेवा करते हैं, हमारी सहायता करते हैं। उन सभी की सेवा और सहायता से ही हमारा जीवन वर्धित एवं उन्नत होता है।

निःस्वार्थ सेवा से हमारी चित्तशुद्धि होती है। उस शुद्ध चित्त में ही समर्पण की भावना आती है। यही भाव गुरुकृपा से जब ईश्वर की ओर उन्मुख होता है, तो वह भक्ति कहलाता है। यह भक्ति यदि सच्ची रही तो एक दिन हमे ईश्वर के दर्शन तक करा देती है और हमारा मानव जन्म ग्रहण करना सफल हो जाता है।

किन्तु यह कुछ सप्ताहों, महीनों या वर्षों में ही नहीं हो जाता। सेवा को शुद्ध पवित्र रख कर उसे भक्ति में परिणत करने के लिए सम्पूर्ण जीवन को निःस्वार्थ सेवा के शुभ कार्यों में झोंक देना पड़ता है। हमारे मन की सभी कामनाओं, वासनाओं तथा इच्छाओं को संयत कर, समेट कर केवल ईश्वर-प्राप्ति की ओर ही लगा देना पड़ता है। ऐसी सेवा में व्यक्ति को अपने शरीर की कोई सुध-बुध नहीं रह जाती। उसका मन अब मान-अपमान, धन सम्पत्ति, स्वजन सम्बन्धियों या संसार का मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा आदि की ओर कभी भूलकर भी नहीं जाता।

ऐसी सेवा उसके हृदय के रक्त में मिलकर सदैव उसकी धमनियों में दौड़ती रहती है, उस व्यक्ति का जीवन सेवामय हो जाता है और वह सदैव संसार की सेवा में ही लगा रहता है। उसे सेवा का अवसर नहीं ढूँढ़ना पड़ता, इसलिए संसार का प्रत्येक कार्य उसके लिए सेवा का ही अवसर बन जाता है।

इस सात्त्विक सेवा से उसके सम्पर्क में आनेवाले अन्य व्यक्तियों के मन में भी सेवा की वृत्ति जाग उठती है तथा धीरे-धीरे वह अन्य व्यक्ति भी अपनी शक्ति, परिस्थिति एवं सामर्थ्य के अनुसार सेवा-कार्यों की ओर अग्रसर होने लगता है।

संसार का कोई भी व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो, पुरुष हो, किसी भी जाति या धर्म का हो, किसी भी देश का हो, यदि वह अपने जीवन का कल्याण चाहता है, तो वह

जीवन के किसी भी क्षेत्र में सेवा के इस महान धर्म को स्वीकार कर अपना जीवन धन्य कर सकता है।

सेवा के सम्बन्ध में मुख्य बात है उसके पीछे की भावना या उद्देश्य। यही सेवा को सार्थक बनाती है।

आज की वृद्ध पीढ़ी का जन्म पराधीन भारत में हुआ था। वे लोग जब किशोर हुए तब भारत में स्वाधीनता का प्रचण्ड संग्राम चल रहा था। देश को पराधीनता से मुक्त करने के लिए भारतवासी अपने प्राणों की बाजी लगाकर स्वतन्त्रता के लिए भीषण संग्राम कर रहे थे। सभी लोगों के हृदय में स्वाधीनता की ज्वाला धधक उठी थी। विशेषकर युवकों के हृदय में देश को स्वाधीन कराने की भावना इतनी प्रबल हो उठी थी कि उनमें से अधिकांश लोगों ने अपना कॉलेज छोड़कर अपने भविष्य की चिन्ता न कर स्वयं को स्वतंत्रता के संग्राम में झोंक दिया था। कितने लोग प्राणों का मोह छोड़ कर फाँसी के तख्ते पर झूल गये। कितने परिवार अनाथ हो गये। कितनी बहनें विधवा हो गईं। इन सब के पीछे प्रेरणा की शक्ति क्या थी? वह शक्ति थी सेवा, नि:स्वार्थ सेवा। देश को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त कराने का संकल्प।

आइये, अब सेवा की महान भावना के कुछ आश्चर्यमय महान चरित्रों को देखें।

अत्यन्त प्राचीन समय की बात है मथुरा नगरी में एक परम सुन्दरी वारांगना रहती थी। आस-पास के राजे-महाराजे, बड़े धनिक श्रेष्ठी उसकी एक झलक पाने के लिए स्वर्ण-मुद्राओं की झड़ी लगाने के लिए प्रस्तुत रहते थे।

एक दिन की बात है। वह युवती प्रात: बेला में स्नान-शृंगार आदि कर स्वर्ग की अप्सरा के समान अपनी कोठी की बाहरी अटारी पर खड़ी थी, जिससे लोग उसके रूप-माधुर्य का पान कर अपने को धन्य कर सकें। उसी समय संयोग से एक गंधर्व के समान परम सुन्दर दिव्यकान्तिपूर्ण यौवन से भरपूर एक बौद्ध भिक्षु उस मार्ग से निकला। भिक्षु के अनुपम सौन्दर्य से मुग्ध होकर सौन्दर्य की साम्राज्ञी वह अप्सरा अपनी कोठी से दौड़कर नीचे उतर आयी और बड़ी ममता से उस भिक्षु से अपने कक्ष में आने का निमन्त्रण दिया। भिक्षु ने आँखें झुकाते हुए परम विनम्रता से कहा, अभी नहीं, समय आने पर मैं आपकी सेवा में अवश्य उपस्थित होऊँगा।

अनादि अनन्त काल से कालचक्र अपनी गति से घूम रहा है। उसके प्रभाव से कोई भी नहीं बच सका है। इस मथुरा की परम सुंदरी वारांगणा पर भी काल का प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे कपूर के समान उसका वह सौन्दर्य हवा में उड़कर अदृश्य हो गया। उसकी एक झलक देखने के लिये स्वर्ण-मुद्राओं को न्यौछावर करनेवाले लोगों ने उसे दूध की मक्खी के समान यमुना के किनारे एक झोपड़े में मरने के लिये फेंक दिया, उसकी दुर्गन्ध भरी देह की ओर कोई झाँकने वाला तक नहीं था।

एक दिन एक प्रौढ़ किन्तु अत्यन्त तेजस्वी बौद्ध भिक्षु उसके द्वार पर आया और उसका नाम लेकर पुकारा। वारांगना ने भिक्षु का कण्ठ स्वर पहचान लिया और रोते-रोते कहा, हे महान भिक्षु ! अब मेरे पास इस सड़े शरीर के सिवा आपको देने के लिए और कुछ भी नहीं है। भिक्षु ने कहा, आप दुखी न हों, अभी भी आपके पास देने को बहुत कुछ है। वह बौद्ध भिक्षु चिकित्साशास्त्र का ज्ञानी था। उसने यथाशक्ति रुग्ण वारांगना की सेवा की। भिक्षु की सेवा से वह पूर्ण स्वस्थ हो गयी। महा भिक्षु ने उसे दीक्षा देकर उपासना की पद्धति सिखायी और उसे संघ की एक भिक्षुणी बनाकर उसका जीवन धन्य कर दिया।

यह घटना हमें निष्काम सेवा के आदर्श को अभिव्यक्त करती है। कैसे एक भिक्षु की नि:स्वार्थ सेवा ने एक वारांगना के जीवन को निरोग कर उसे जगत के असार सम्बन्धों का अनुभव कराकर उसे परमात्म-पथ की ओर अग्रसर कर दिया। निष्काम सेवा सेवक के जीवन को तो श्रेष्ठ बनाती ही है, सेव्य को भी सत्पथ पर ले जाकर उसके जीवन को धन्य कर देती है। अत: सेवा हमेशा स्वार्थरहित करें, सेवा की जब आवश्यकता हो तभी करें, सेवा की जितनी आवश्यकता हो, उतनी ही करें और सेव्य के मन में आपकी सेवा ऋण, उपकार या भार न बनें, इसके लिए सदा अपनी विनम्रता, शिष्टता और आत्मीयता व्यक्त करें, अपने कर्तव्यबोध का स्मरण करते रहें।

अत्यन्त संक्षेप में यही सेवा का उपयोग है, महत्त्व है। हम और कोई साधना न भी कर सकें, तो भी अपने जीवन में, अपने परिवार में इस सेवा का आचरण कर अपना जीवन सार्थक कर सकते हैं। ○○○

‘सेवा के लिए सेवा’ : एक महान आदर्श

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी

आज से लगभग १२३ वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने कहा था – ‘‘त्याग और सेवा भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं। राष्ट्र को इन्हीं दिशाओं में प्रगति करने दो। अन्य सारी बातें अपने आप ठीक हो जाएँगी।’’ यह प्रसन्नता का विषय है कि भारत के विषय में स्वामीजी के इस निर्देश को राष्ट्र ने आंशिक रूप से ही सही, किन्तु सुना है, जिसके परिणामस्वरूप आज हम भारत में सर्वत्र सेवा-संस्थाओं की भरमार देखते हैं। सरकार ने सेवा को ‘राष्ट्रीय सेवा योजना’’ (एन.एस.एस.) के रूप में विद्यालयीन शिक्षा का अंग बनाकर समुचित महत्त्व प्रदान किया है। लेकिन स्वामीजी किस प्रकार की सेवा चाहते थे, तथा कौन-सी सेवा को उन्होंने राष्ट्रीय आदर्श की संज्ञा दी थी, इसे भली-भाँति समझना परमावश्यक है।

व्यापक अर्थ वाले इस ‘सेवा’ शब्द का विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है। सामान्य बोल-चाल एवं वार्तालाप में सेवा शब्द का उपयोग व्यवसायों के लिए भी किया जाता है, जैसे स्वास्थ्य सेवाएँ, राष्ट्रीय सुरक्षा सेवा इत्यादि। व्यक्ति अपना परिचय देते समय कहता है कि वह अमुक सेवा में रत है। आधुनिक सामाजिक ढाँचा इतना जटिल हो गया है कि कोई भी व्यक्ति सैकड़ों दूसरे व्यक्तियों के योगदान के बिना जीवित नहीं रह सकता। जूते, कपड़े, अन्न, व्यंजनादि हमारे दैनन्दिन उपयोग की वस्तुओं का निर्माण न जाने कितने लोगों के हाथों से होता है। इसी तरह हमारे द्वारा किया गया एक छोटा-सा कार्य न जाने कितने लोगों के लिए उपयोगी होगा, यह हम सामान्यत: हृदयंगम नहीं कर पाते। अत: अपने व्यवसाय को सेवा की संज्ञा देना युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है। सरल शब्दों में दूसरों के लिये किया गया कोई भी कार्य सेवा कहलाता है, चाहे वह वैतनिक हो या अवैतनिक, चाहे उसका प्रतिदान प्राप्त हो अथवा नहीं। सेवा को इतने व्यापक अर्थों में स्वीकार करते हुए भी वैतनिक व्यवसाय को सेवा नहीं कहा जा सकता।

एक दूसरे प्रकार की भी सेवा है, जिसे ‘फैशन’ या शौक की संज्ञा दी जा सकती है। ५-१० लोग मिलकर एक सेवा-संस्था का निर्माण करते हैं। कुछ धन-संग्रह करते हैं तथा गरीबों को औषधि एवं वस्त्रादि वितरित कर देते हैं। अधिकांश अवसरों पर इस सेवा-कार्य का प्रचार समाचार पत्रों एवं दूरदर्शन के द्वारा पर्याप्त मात्रा में किया जाता है। इन कार्यों में सेवा की भावना कम और नाम-यश की इच्छा एवं अहंकार की शर्त अधिक होती है।

लेकिन सभी लोग इस हीन भावना से प्रेरित सेवा नहीं करते। कुछ ऐसे भी है जो हृदय की उदारता से आर्तों एवं पीड़ितों की सेवा में आत्मनियोग करते हैं। इसके पीछे उनका कोई स्वार्थ नहीं होता और न ही वे अपनी सेवा का कोई प्रतिदान अथवा उसकी प्रशंसा के इच्छुक ही होते हैं। ‘सेवा के लिए सेवा’, यह उच्च आदर्श बहुत कम लोगों का होता है और उससे भी कम लोग अन्त तक इस उच्च मनोभाव को बनाये रखने में समर्थ होते हैं।

शिवज्ञान से जीवसेवा

उपर्युक्त निष्काम सेवा का एक उच्चतर रूप है – शिवज्ञान से जीवसेवा। इससे सेवा-कार्य को एक आध्यात्मिक दिशा एवं दृष्टि प्राप्त होती है। ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ सब कुछ ब्रह्म ही है, सभी में परमात्मा का वास है, भारतीय संस्कृति एवं धर्म के इस मूलभूत सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप है – आर्तों एवं पीड़ितों की भगवद्बुद्धि से सेवा करना। ऐसी सेवा, मात्र सेवा न होकर, एक भौतिक क्रिया मात्र न होकर, पूजा का रूप ग्रहण कर लेती है एवं व्यक्ति की आध्यात्मिक साधना का अंग बन जाती है।

अनादि काल से मोक्ष, ईश्वर-दर्शन या आत्म साक्षात्कार भारतीय संस्कृति का मूल लक्ष्य एवं भारतीय संस्कृति का चरम आदर्श रहा है। इस एक चरम पुरुषार्थ को केन्द्र कर भारतीय संस्कृति एवं जीवन का गठन हुआ है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के सभी क्रिया-कलापों को आध्यात्मिक दिशा प्रदान करने की विशेष क्षमता भारतीय मन ने सदियों के अभ्यास एवं प्रयोग द्वारा अर्जित की है। इसी की प्रेरणा से आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण

एवं स्वामी विवेकानन्द ने सेवा जैसे महत्वपूर्ण एवं सभी लोगों से सम्बन्धित कार्य को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया है। यही नहीं, सेवा को श्रेष्ठतम पूजा, युगोपयोगी एवं अत्यन्त प्रभावशाली साधना में परिणत कर समग्र देश को एक नयी दिशा प्रदान की है।

एक बार परमहंस श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर में अपने कमरे में बैठे भक्तों से वैष्णव धर्म के विषय में वार्तालाप कर रहे थे। उन्होंने कहा कि वैष्णवों के मुख्य तीन सिद्धान्त होते हैं – १. भगवन्नाम में रुचि २. जीवों पर दया और ३. वैष्णव-पूजन। नाम और नामी अभेद होते हैं। इसलिए भगवान के नाम का पूरी श्रद्धा के साथ जप करना चाहिए। इतना कहकर श्रीरामकृष्ण जब 'जीव पर दया' इस सिद्धान्त की व्याख्या में प्रवृत्त हुए तो वे समाधिस्थ हो गये। वे इतने शुद्धसत्व महापुरुष थे, उनका मन इतना पवित्र एवं संवेदनशील था कि किसी विषय पर एकाग्र करने पर, वह उस विषय के साथ एकाकार हो जाया करता था, इस अवस्था को ही समाधि की संज्ञा दी जाती है। समाधि से सामान्य बाह्य अवस्था को प्राप्त होने पर वे मानव को सम्बोधित कर कहने लगे, "छि: कीटानुकीट, मानव, तू जीव पर दया क्या करेगा? दया नहीं, शिव-ज्ञान से जीवसेवा"। दया अहंकार का द्योतक है, लेकिन सेवा में विनम्रता है, समर्पण है। स्वामी विवेकानन्द उस भक्त-मंडली में बैठे थे। उन्होंने जब श्रीरामकृष्ण की यह बात सुनी तो मुग्ध हो गये। उन्होंने इस सन्देश को प्राप्त कर निश्चय किया कि समय आने पर वे इसका सारे विश्व में प्रचार करेंगे। बाद में इसी 'शिव-ज्ञान से जीव सेवा' के आधार पर स्वामीजी ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।

सामान्यत: आध्यात्मिक साधना का प्रारम्भ मूर्ति-पूजा अथवा अन्य किसी स्थूल प्रतीक की उपासना से होता है। भक्त अपने इष्ट की मूर्ति या चित्र में अपने आराध्यदेव की जीवन्त सत्ता का आरोपण एवं आह्वान करता है। उसके बाद उसकी पत्र, पुष्प, धूप, दीप, गन्धादि से पूजा करता है। धीरे-धीरे वह जड़ प्रतीक में अपने इष्टदेव की जीवन्त सत्ता का अनुभव करने लगता है। अन्त में उसे अपने आराध्यदेव के चैतन्य रूप के दर्शन होते हैं। तात्पर्य यह है कि मूर्ति अथवा चित्र जैसे जड़ पदार्थ को प्रतीक मानकर अन्त में परमात्मा तक पहुँचा जा सकता है। यदि यह सम्भव है, तो प्राणवन्त, जीवन्त चेतना से युक्त मानव को भगवान मानकर क्या उसकी पूजा द्वारा भगवान के दर्शन नहीं हो सकते? यह सम्भव ही नहीं, बल्कि मूर्ति पूजा से श्रेष्ठतर पूजा है। मानव पाषाण की अपेक्षा, भगवान का श्रेष्ठतर प्रतीक है। प्रतीक ही नहीं, उसमें तो परमात्मा का अधिकतर अंश विद्यमान है। उसमें पाषाण की अपेक्षा परमात्मा का प्रकाश कहीं अधिक है। उसमें प्राण-प्रतिष्ठा अथवा देवता का आह्वान भी नहीं करना पड़ता।

सैद्धान्तिक दृष्टि से मानव की ईश्वर के प्रतीक के रूप में उपासना मूर्ति पूजा से श्रेष्ठतर होते हुए भी इस साधन प्रणाली की कुछ समस्याएँ हैं। मूर्ति को भगवान के रूप में देखने में अभ्यस्त भारतीय मन के लिए एक कोढ़ी, रोगी, दरिद्र, अस्वच्छ भिखारी को भगवान के रूप में देखना आसान नहीं है। विष्णु, दुर्गा, राम, कृष्ण, काली आदि की मूर्ति देखकर हमारे मन में यह विचार नहीं आता कि यह पाषाण है, बल्कि, सहज ही हमारा मस्तक श्रद्धा-भक्ति से नत हो जाता है। लेकिन रोगी या दरिद्र मानव में परमात्मा का अधिक प्रकाश होते हुए भी हमें वह रोगी या दरिद्र ही दिखता है, भगवान नहीं। भगवान की मूर्ति तो सदा एक ही भाव में बनी रहती है, उसके चेहरे की मुस्कान कभी मलिन नहीं होती। लेकिन जीवन्त जाग्रत रोगी-भगवान कभी रुष्ट या उदास भी हो जाते हैं और तब मन कह उठता है, यह कैसा भगवान है, जो रोता अथवा क्रोधित होता है। यही कारण है कि हम कुछ समय तक भले ही 'रोगी नारायण', 'दरिद्र नारायण' का भाव बनाये रख सकें, पर दीर्घकाल तक उसे बनाये रखना सम्भव नहीं होता। यह समस्या मूर्तिपूजा के साथ नहीं होती। इसीलिए रोगी एवं आर्त मानव श्रेष्ठतर प्रतीक होते हुए भी उसकी सेवा रूप पूजा इतनी प्रभावशाली अथवा फलदायक नहीं हो पाती, जितनी मूर्ति पूजा होती है। तब हम क्या करें?

इस समस्या का एकमात्र समाधान है, बार-बार अपने मन को यह सुझाव देना कि जिस रोगी अथवा दीन-दुखी की मैं सेवा कर रहा हूँ, वह वस्तुत: नारायण है। हमें अपने आराध्य, सेव्य मानव के बाह्य प्रतीयमान रूप की उपेक्षा करना सीखना होगा। चाहे वह कितनी ही कुत्सित क्यों न दिखाई दे, चाहे उसका चरित्र कितना ही भ्रष्ट क्यों न हो, चाहे उसका आचरण कितना ही अप्रिय क्यों न हो, हमें सदा यह भाव बनाये रखने का प्रयत्न रखना चाहिए कि हमारा सेव्य साक्षात् नारायण है, तथा हम सेवा के रूप

में उसकी पूजा ही कर रहे हैं। मन में पूर्व-स्वभाव एवं अभ्यास के कारण हमारे समक्ष उपस्थित नारायण के बाह्य रूप को देखकर हमारे मन में घृणा या उपेक्षा का भाव उदित होगा, लेकिन हमें बार-बार नारायण-बुद्धि बनाये रखने का, बार-बार भगवद्-बुद्धि जमाने का अभ्यास करते रहना होगा। मूर्तिपूजा में त्रुटि होने पर मूर्ति अप्रसन्नता प्रकट नहीं करती, न ही उसमें कोई प्रतिक्रिया दिखाई देती है। लेकिन रोगी-नारायण की सेवा में त्रुटि होने पर वह कष्ट पा सकता है एवं उसकी अप्रिय प्रतिक्रिया स्पष्ट दिखाई देती है। अत: इस प्रकार से शिव-ज्ञान से जीव-सेवा में सहिष्णुता, धैर्य, एकाग्रता आदि अनेक गुणों की भी विशेष आवश्यकता होती है।

किन उपकरणों से शिवज्ञान से जीवसेवा रूपी पूजा अनुष्ठित होती है? रोगी अथवा दरिद्र नारायण की सेवा में पत्र-पुष्पादि मूर्तिपूजा के उपकरण काम में नहीं आते। अन्न, वस्त्र, औषधि पथ्य आदि इस पूजा के उपकरण हैं। रोगी-नारायण को पुष्प के स्थान पर औषधि अर्पित की जाती है, भोग के स्थान पर रोगी का पथ्य, चन्दन के बदले मरहम पट्टी तथा स्नान जल के बदले हल्के गरम पानी से शरीर पोछा जाता है। उसका संस्कृत में "इहागच्छ, इह तिष्ठ, इह सन्निधेहि,' इत्यादि मन्त्रों द्वारा आह्वान नहीं किया जाता है। इसके बदले, 'भाई, क्या कष्ट है, बताओ, औषधि का नियमित सेवन करने से तुम अच्छे हो जाओगे, विश्राम करो,' इत्यादि बातें कहनी होती हैं। ये ही इस आराधना के मन्त्र हैं। जिस प्रकार देवी-देवताओं की पूजा प्रणालियाँ अलग-अलग होती हैं, राम की पूजा-पद्धति एवं काली की पूजा-पद्धति में भेद होता है, उसी प्रकार रोगी अथवा दरिद्र नारायण की पूजाओं में भी भेद होता है। टायफायड के रोगी की चिकित्सा रूपी पूजा एवं पीलिया के रोगी की सेवा में अन्तर होता है। इस अन्तर को न जानने से अर्थ का अनर्थ हो सकता है। मूर्ति पूजा में करन्यास, अंगन्यास, भूतशुद्धि आदि प्रारम्भिक क्रियाएँ होती हैं। उसी प्रकार सेवारूपी पूजा में भी सेवा की सामग्री एवं सेवक को कुछ प्रारम्भिक क्रियाओं द्वारा अपने को तैयार करना पड़ता है। इसका श्रेष्ठ उदाहरण शल्योपचार है, जिसकी तुलना किसी भी उच्चकोटि की पूजा से की जा सकती है। इस पूजा में उच्चकोटि की क्रियापद्धति, प्रशिक्षण विशुद्धि एवं अत्यधिक सतर्कता और एकाग्रता की आवश्यकता होती है।

रोगी-नारायण की पूजा के उदाहरण से समझायी गयी बातें अन्य प्रकार के आर्त, पीड़ित नारायणों की पूजा के विषय में भी लागू होती हैं। अज्ञ व्यक्ति को ज्ञान प्रदान करना, असहाय को सहायता, भूखे को अन्न एवं निराश्रय को आश्रय आदि प्रदान करना, ये सारे कार्य उपयुक्त सिद्धान्तों के आधार पर पूजा में परिणत किये जा सकते हैं। जिस प्रकार मूर्ति पूजा में प्रकृत पूजक एक ही होते हुए भी पूजा को सुसम्पन्न करने में अनेक लोग योगदान करते हैं, उसी तरह रोगी अथवा दरिद्र नारायण की तात्कालिक पूजा एक व्यक्ति के द्वारा सम्पादित होते हुए भी उसमें अनेक व्यक्ति सहायक होते हैं। इन सभी सहयोगियों के कार्य भी पूजा के ही अंग हैं तथा उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितनी पूजा स्वयं।

उपर्युक्त सेवा रूप पूजा का प्रचार एवं प्रसार स्वामी विवेकानन्द की आधुनिक युग को एक महती देन है। इसे ही अन्य सन्दर्भ में, व्यावहारिक जीवन में वेदान्त की संज्ञा दी जाती है एवं रामकृष्ण मिशन के विभिन्न केन्द्र इसी को कार्यरूप प्रदान करने का प्रयत्न करते हैं। यदि आप रामकृष्ण मिशन के किसी केन्द्र में जाएँ, तो वहाँ आप संन्यासियों को ऑफिस में, अस्पताल के वार्ड में, गोशाला में, विद्यालय कक्ष में नाना कार्यों के माध्यम से नारायण सेवा करते देखेंगे।

यह स्पष्ट है कि शिवज्ञान से जीवसेवा सभी के द्वारा सम्भव है। ऐसी बात नहीं है कि वह केवल संन्यासियों द्वारा ही सम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी परिस्थिति एवं परिवेश में इस सेवा को, इस विशिष्ट पूजा पद्धति को अपना कर धन्य हो सकता है। ○○○

स्वामी विवेकानन्द इस रामकृष्ण संघ में जो सेवा आदि कार्यों का प्रवर्तन कर गए हैं, उन सभी कार्यों को दैनन्दिन साधन-भजन के साथ करना होगा – साधन-भजन का अंग मानकर। तभी कार्य ठीक-ठीक होगा।

– स्वामी शिवानन्द

आधुनिक मानव और सेवायोग

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन, वड़ोदरा

जो कुछ है सो तू ही है

श्रीरामकृष्ण देव कलकत्ता में काशीपुर के बगीचे में कैंसर की चिकित्सा करवा रहे थे। नरेन्द्रनाथ (जो बाद में स्वामी विवेकानन्द जी के नाम से विश्वविख्यात हुए), तब आध्यात्मिक अनुभूति के लिए बहुत व्याकुल थे। एक दिन उन्होंने श्रीरामकृष्ण से आग्रहपूर्वक अनुरोध किया कि उन्हें आध्यात्मिक अनुभूति करवा दें। श्रीरामकृष्ण देव ने कहा, 'तुम पहले अपने परिवार की कोई व्यवस्था कर आओ, तब तुम्हें सब मिल जाएगा। तुम्हें क्या चाहिए? नरेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया, 'मैं तो हमेशा समाधि की अवस्था में लीन रहता चाहता हूँ।' अन्य कोई गुरु होता तो अवश्य प्रसन्न हो जाता, पर यह तो थे अनन्य शिष्य के अनन्य गुरु। श्रीरामकृष्ण देव ने कहा, 'तुझे धिक्कार है ! मैं तो सोचता था कि तू तो एक विशाल वट-वृक्ष की तरह बनेगा, जिसकी छाया में बैठ कर लाखों लोग, नर-नारी शान्ति पाएँगे। पर तू तो सिर्फ अपनी ही मुक्ति की बात करता है। अपने ही आनन्द की बात करता है। अरे, समाधि से भी उच्चतर स्थिति है ... क्या तू वह भजन नहीं गाता – जो कुछ है सो तू ही है?'

श्रीरामकृष्ण देव और विवेकानन्द, दोनों का यह प्रिय भजन था – अन्तिम मुगल बादशाह ज़फ़र का लिखा सूफ़ी गीत, जिसमें वेदान्त का स्पष्ट सन्देश है। सर्व व्यापक ईश्वर को लक्ष्य करके कवि कहता है –

तुझसे हमने दिल को लगाया, जो कुछ है सो तू ही है।
एक तुझको अपना पाया, जो कुछ है सो तू ही है ।।

श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं कि यदि आँख बन्द करके ध्यान कर सकते हैं, तो आँख खोलकर भी ध्यान कर सकते हैं, क्योंकि ईश्वर विभिन्न रूपों में रहता है।

प्रत्येक मनुष्य के हृदय में विद्यमान दिव्य चेतना को लक्ष्य कर कवि कहता है –

सबके मकान दिल का मकीन तू, कौन सा दिल है जिसमें नहीं तू।
हरेक दिल में तू ही समाया, जो कुछ है सो तूही है ।।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण भी कहते हैं – **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति** – हे अर्जुन, सब जीवों के हृदय में ईश्वर का निवास होता है।' कठोपनिषद में भी कहा है – **एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते** – 'सभी जीवों में यह आत्मा छिपी हुई है।' कवि जीव की समानता की बात करते हुए कहता है –

क्या मलायक क्या इंसान, क्या हिन्दू क्या मुसलमान।
जैसा चाहा तूने बनाया, जो कुछ है सो तू ही है ।।

वेदों में कहा है – **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** – सत्य एक ही है, ज्ञानी उसका विविध प्रकार से वर्णन करते हैं।' श्रीरामकृष्ण देव ने अपने जीवन की प्रयोगशाला में विभिन्न धर्मों का पालन विभिन्न भाव से करके 'परम सत्य' के अनुभव की घोषणा की थी – 'जितने मत उतने पथ।' हर एक धर्म एक ही परम सत्य की ओर ले जाता है।' सर्वधर्म-समभाव की भावना से कवि कहता है कि –

काबा में क्या देवल में क्या, तेरी परस्तिश होगी, सब जाँ।
सबने तुझको सिर है झुकाया, जो कुछ है सो तूही है ।।

'ईशावस्योपनिषद् में कहा है – **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्याम् जगत** – जगत में जो कुछ भी है, वह सब कुछ ईश्वर से ओत-प्रोत है।' कवि इस सर्वव्यापक ईश्वर को लक्ष्य करके कहता है –

अर्श से लेकर फर्श जमीं तक और जमीं से अर्श बरी तक।
जहाँ मैं देखा तू ही नजर आया, जो कुछ है सो तू ही है ।।

जीवन की सार्थकता सर्वव्यापक ईश्वर को स्वीकारने में ही है। यह ज्ञान 'कवि ज़फर' ने बहुत अधिक विचार करने के बाद पाया –

सोचा समझा देखा भाला, तुझ जैसे कोई न ढूँढ़ निकाला।
अब यह समझ में ज़फर की आया, जो कुछ है सो तू ही है।।

महाकवि नरसिंह मेहता का भजन 'अखिल ब्रह्माण्ड में एक तू श्री हरि' का संदेश भी उपर्युक्त सूफ़ी गीत में मिलता है।

प्रख्यात वैज्ञानिक आईन्स्टाइन ने एक अमूल्य समीकरण दिया था – $E=mc^2$। इसी तरह हमारे ऋषियों ने एक समीकरण दिया था – जीव = शिव। यह समीकरण हम भूल गए हैं। इसे स्मरण दिलाने के लिए

श्रीरामकृष्ण देव का अवतार हुआ था।

उपनिषदों में दो प्रकार के ब्रह्म की बातें कहीं गयी हैं – परब्रह्म और अपर ब्रह्म – (Transcendental Brahman and Immanent Brahman)। सैकड़ों वर्षों से हम अपर ब्रह्म, सर्वव्यापक ब्रह्म की उपासना की बात भूल गए हैं तथा जगत को ब्रह्ममय देखना भी भूल गए हैं। जगत की दूसरी ओर ईश्वर को पाने के लिए, अपनी मुक्ति की लालसा में, जगत में रहनेवाले दुखी जीवों के प्रति अपने कर्तव्यों को भूल गये हैं। इसलिए श्रीरामकृष्ण देव ने अपने जीवन-संदेश द्वारा यह बात आज के वैज्ञानिक युग में प्रमाणित करके बताई और पुन: प्रस्थापित की।

एक बार श्रीरामकृष्ण देव गंगा नदी के किनारे बैठे थे, तो उन्होंने देखा कि दूर नदी में दो नाविकों में झगड़ा हो रहा था। एक नाविक ने दूसरे नाविक की पीठ पर जोर से मारा। श्रीरामकृष्ण देव दर्द से चीख उठे। उनका भानजा तुरन्त दौड़कर आया। आकर उसने देखा कि श्रीरामकृष्ण देव की पीठ लाल हो गई है। हृदयराम तुरन्त बोला, 'मामा, बोलो किसने आपकी पीठ पर मारा? आज उसकी खैर नहीं।' श्रीरामकृष्ण देव ने जब बताया कि उनकी पीठ पर नहीं एक नाविक की पीठ पर दूसरे नाविक ने मारा, जिसके दर्द से उनकी पीठ लाल हो गई। तब हृदयराम अवाक् रह गया। कितनी अद्भुत अद्वैतानुभूति है !

ऐसी कितनी ही अद्वैतानुभूति के जीवन्त उदाहरण श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में देखने को मिलते हैं। अपनी इस अनुभूति के बाद उन्होंने 'शिवज्ञान से जीवसेवा' का संदेश दिया था। इसलिए यह इतना प्रभावशाली बना।

शिवज्ञान से जीवसेवा

एक बार श्रीरामकृष्ण देव ने दक्षिणेश्वर में भक्तों के साथ वार्तालाप करते समय श्रीचैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय के बारे में कहा 'इस सम्प्रदाय के तीन उपेदश मुख्य हैं – 'नामे रुचि' (प्रभु के नाम में रुचि), 'वैष्णवेर सेवा' (वैष्णवों की सेवा) और 'जीवे दया' (जीवों पर दया)। 'जीवे दया' शब्द बोलते समय श्रीरामकृष्ण देव भावावेश में आ गए। थोड़ी देर बाद अर्धबाह्य दशा में आकर बोलने लगे, 'जीव पर दया ! अरे पृथ्वी पर रहने वाला एक क्षुद्र कीड़ा दूसरे पर दया जताएगा? तू दया जताने वाला कौन है? नहीं ! हर एक जीव शिव स्वरूप है। जीव की शिव ज्ञान से सेवा करनी चाहिए।'

आत्मा की गहराई से निकले ये शब्द सबने सुने, पर नरेन्द्रनाथ के अलावा किसी ने इस के मर्म को नहीं समझा। अंदर से बाहर निकलते समय उन्होंने कहा, 'गुरुदेव के इन अदभुत शब्दों में मैंने अपूर्व प्रकाश देखा ! सामान्य तरीके से कठोर और कर्कश वेदान्त-ज्ञान और भक्ति को कितने मधुर ढंग से मिला कर समझा दिया। अगर ईश्वर की इच्छा होगी, तो इस महान सत्य को जगत के समक्ष रखूँगा। चाहे पंडित हो या मूर्ख, राजा हो या रंक, ब्राह्मण हो या भंगी सभी इस सत्य का साक्षात्कार कर सकें, ऐसा मैं करूँगा।

ईश्वर ने उन्हें यह अवसर प्रदान किया। श्रीरामकृष्ण देव की महासमाधि के बाद संन्यास व्रत लेकर नरेन्द्रनाथ स्वामी विवेकानन्द बने। परिव्राजक के रूप में उन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया, शिकागो में आयोजित विश्वधर्म सभा में सनातन धर्म का झंडा फहराया। चार वर्ष तक वेदान्त का प्रचार कर १८९७ में भारत वापस आकर 'शिव-ज्ञान से जीव-सेवा' के संदेश को मूर्तरूप देने के लिए उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। आज रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के देश-विदेश में १८१ केन्द्रों द्वारा करोड़ों रुपयों के खर्च से लाखों लोगों की सेवा के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के कितने ही सेवाकार्य चल रहे हैं। १५ इनडोर अस्पताल, १११ डिस्पेन्सरी, ५९ मोबाईल डिस्पैन्सरी, १२४९ शैक्षणिक संस्थाएँ (कुल विद्यार्थी - ३,४६,२२१), ग्रामीण और आदिवासी विकास के कार्य, राहत कार्य, विभिन्न भाषाओं में प्रकाशन का कार्यक्रम चल रहा है। बहुत लोग यह समझते हैं कि रामकृष्ण मिशन एक समाजसेवी संस्था है। किन्तु यह तो एक आध्यात्मिक संस्था है, जिसका आदर्श है – 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' ।

स्वामी विवेकानन्द ने भी पहले अद्वैतानुभूति होने के बाद ही इस सेवायोग का प्रचार किया था। इसीलिए यह इतना प्रभावशाली बना। जब वे विद्यार्थी थे, तब भी इस विषय पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव से तर्क किया था।

जीवन के व्यवहार में वेदान्त

एक दिन श्रीरामकृष्ण देव नरेन्द्रनाथ को जीव और ब्रह्म की एकता के बारे में समझाने की कोशिश कर रहे थे। थोड़ी देर बाद नरेन्द्रनाथ बाहर गए और वहाँ मास्टर महाशय के पास जाकर श्रीरामकृष्ण देव के कहे संदेश की हँसी उड़ाने लगे और हँसते-हँसते बोलने लगे, 'यह घड़ा,

यह प्याला ब्रह्म और हम भी ब्रह्म ! इससे विचित्र बात कोई और हो सकती है?' श्रीरामकृष्ण देव ने नरेन्द्रनाथ का यह हास्य सुना। वह बाहर आए और नरेन्द्रनाथ का स्पर्श किया। इस स्पर्श का अद्भुत प्रभाव पड़ा। तत्क्षण उन्हें सब कुछ ब्रह्ममय दिखने लगा। खाने बैठे तो भोजन, थाली परोसने वाला व्यक्ति और स्वयं सब कुछ ही ब्रह्म स्वरूप है, ऐसी उन्हें अनुभूति हुई। हर एक कार्य करते समय उन्हें सर्वत्र ब्रह्म दर्शन होने लगे। गीता में एक श्लोक है – **ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्** और उपनिषद का संदेश **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का साक्षात्कार स्वामीजी ने इस तरह युवावस्था में ही कर लिया था। जब वे परिव्राजक रूप में भारत-भ्रमण कर रहे थे, तो ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान उन्हें अलमोड़ा में प्राप्त हुआ था।

हिमालय में भ्रमण करते-करते स्वामी विवेकानन्द जी अपने गुरुभाई स्वामी अखंडानन्द जी के साथ अलमोड़ा की तरफ जा रहे थे, तब अलमोड़ा से लगभग २० कि.मी. दूर काकड़ीघाट नामक स्थान पर एक विशाल वटवृक्ष की छाया में एक सुन्दर झरने के पास वे ध्यान-मग्न हो गए। एक घंटे के बाद उन्होंने स्वामी अखण्डानन्द जी से कहा, 'गंगाधर, इस वटवृक्ष के नीचे मेरे जीवन की एक जटिल समस्या सुलझ गई है।' इसके बाद उन्होंने समष्टि (macrocosm) और व्यष्टि (micrososm) अर्थात् विश्व-ब्रह्माण्ड और अणु-ब्रह्माण्ड की एकता के अद्भुत दर्शन की बात बताई।

आज तो आधुनिक विज्ञान ने भी प्रमाणित कर दिया है कि विश्व के सभी परमाणु एक दूसरे से परस्पर मिले हुए हैं। डेविड बोम ने अपने एक प्रयोग में कहा है कि सारा जगत Holistic है। नोबल पुरस्कार विजेता प्रख्यात वैज्ञानिक श्रोडिंजर ने यह सत्य सुन्दर ढंग से कहा है – consciousness is singular of which plural is unkonwn – (चेतना तो एक ही है, इसका अन्य नाना रूप अज्ञात है)

एक बार भगिनी निवेदिता ने स्वामी विवेकानन्द से पूछा, 'क्या यह बात सच है कि बौद्ध धर्म कहता है कि आत्मा (एक) मिथ्या है और जगत (अनेक) सत्य है, जबकि हिन्दू धर्म कहता है कि ब्रह्म (एक) सत्य है, और जगत (अनेक) मिथ्या है? स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'हाँ, मैं और श्रीरामकृष्ण यह दिखाने के लिये आए हैं कि अनेक और एक का भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न अवस्था में, मन द्वारा अनुभव करना एक ही तत्त्व है।'

ईश्वर साकार और निराकार दोनों ही है। ईश्वर वह तत्त्व है, जिसमें साकार और निराकार दोनों ही समाविष्ट हैं। भगिनी निवेदिता स्वामी विवेकानन्द साहित्य की भूमिका में लिखती हैं – 'यही वह वस्तु है, जो हमारे गुरुदेव के जीवन को सर्वोच्च महत्व प्रदान करती है, क्योंकि यहाँ वे पूर्व और पश्चिम के ही नहीं, भूत और भविष्य के भी संगम बिन्दु बन जाते हैं।' अनेक और एक, एक ही तत्त्व है, तो उपासना की सभी पद्धतियाँ ही नहीं, वरन् कार्य करने की सभी पद्धतियाँ, प्रयत्न के सभी प्रकार तथा सर्जन की सभी रीतियाँ ईश्वर के साक्षात्कार के मार्ग हैं। इसलिए व्यवहारिक (secular) और आध्यात्मिक (sacred) के बीच में भेद नहीं रहा। परिश्रम करना है प्रभु प्रार्थना, विजय प्राप्त करना है त्याग।

भगिनी निवेदिता के कथनानुसार यह अनुभव स्वामीजी के ज्ञान और भक्ति से भिन्न नहीं है, किन्तु दोनों ने उन्हें प्रकट करनेवाला महान कर्मयोग का उपदेशक बना दिया। उनके अनुसार जीव और शिव के मिलने के लिए कारखाने, प्रयोगशाला, खेत, साधु की कुटिया सभी देवमंदिर के द्वार के समान ही योग्य स्थान हैं।

एक बार स्वामी विवेकानन्द जी ने दक्षिण भारत में वार्तालाप करते समय कहा था, 'आदि शंकराचार्य ने वेदान्त को पुनः प्रतिष्ठित करके अद्भुत कार्य किया, उन्होंने इस वेदान्त को जंगल में एक गुफा में रख दिया। मेरा जन्म वन के वेदान्त को घर-घर ले जाने के लिए हुआ है।' स्वामीजी ने व्यावहारिक वेदान्त का प्रचार कार्य किया और कहा कि वेदान्त को दैनिक जीवन में व्यवहार में लाने से एक मछुआरा बहुत अच्छा मछुआरा बन सकता है, एक विद्यार्थी अधिक अच्छा विद्यार्थी बन सकता है, एक शिक्षक अच्छा शिक्षक बन सकता है।

स्वामी विवेकानन्द का विशिष्ट अवदान : सेवायोग

एक बार स्वामी विवेकानन्द जी के एक गुरुभाई ने उन्हें कहा, 'तुमने नई बात क्या कही है? वही वेदान्त की पुरानी बातों का प्रचार किया है।' स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'यह कर्मयोग-सेवायोग मेरा विशिष्ट अवदान है। इससे पहले किसी ने कर्मयोग का इस प्रकार प्रचार नहीं किया था।' उन्होंने आगे कहा, 'संन्यास धर्म की योग्यता रखने वाले महान व्यक्ति बहुत कम होते हैं। पर इस सेवा के आदर्श का अवलंबन करके साधारण व्यक्ति भी संन्यास

धर्म को स्वीकार कर सकेगा।'

प्राचीन मान्यता ऐसी है कि कर्म और ज्ञान का समन्वय कभी संभव नहीं है, कर्म तो सहज चित्तशुद्धि करने में सहायक है। पर स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि नि:स्वार्थ सेवा करने से अन्य किसी साधना के बिना भी मुक्ति (उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति) मिल सकती है। परम्परागत दृष्टिकोण से कर्मयोग ईश्वर के साथ संयोग का परोक्ष साधन है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द जी ने वेदान्त को जीवन में व्यवहार में लाकर सेवा-धर्म करने का मार्ग बताया है। इसे हमने 'सेवायोग' का नाम दिया है। जो परोक्ष नहीं, प्रत्यक्ष रूप में समाधि की अवस्था ला सके, इतना ही नहीं, समाधि से भी उच्चतर आध्यात्मिक अवस्था, जिसे रामकृष्ण देव ने विज्ञान की अवस्था कहा है, वह दे सकता है।

संन्यासी और सेवायोग

स्वामी विवेकानन्द जी की आज्ञा से जब उनके शिष्यों ने कनखल, हरिद्वार में रोगियों की सेवा करने का कार्य आरम्भ किया, तो संन्यासी-सम्प्रदाय में हलचल मच गयी। रामकृष्ण मिशन के साधुओं का अन्य सम्प्रदाय के साधुओं द्वारा बहिष्कार कर दिया गया। वे इन्हें 'भंगी साधु' कहते थे। क्योंकि ये रोगियों की सेवा अपने हाथों से करते थे। आज सौ वर्ष के पश्चात् स्थिति बदल गई है। अब धीरे-धीरे अन्य संन्यासी भी सेवा-धर्म का महत्त्व समझ रहे हैं।

स्वामी विवेकानन्द जी के गुरु-भाइयों को भी 'सेवायोग' के महत्त्व के विषय में शंका उत्पन्न हो गई थी। पर बाद में दूसरों की तो क्या बात है, स्वयं स्वामी विवेकानन्द जी के गुरुभाई स्वामी योगानन्द जी ने एक बार यह संशय उनके सामने रखा। बाद में उन्हें अपनी भूल समझ में आ गई। स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द जी अपने जीवन के अन्तिम दिनों में दुख करने लगे कि उन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी के सेवायोग का पालन नहीं किया। १४ जनवरी, १९२१ के दिन उन्होंने रामकृष्ण मिशन के वाराणसी अस्पताल में कहा कि यदि कोई व्यक्ति मात्र तीन दिन सही अर्थ में 'शिव ज्ञान से सेवा करे' तो उसे मुक्ति मिल जाएगी।

विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के लेखक श्री महेन्द्रनाथ गुप्त 'म' (मास्टर महाशय) भी प्रारम्भ में यह मानते थे कि श्रीरामकृष्ण देव के उपदेश के अनुसार ध्यान, जप, प्रार्थना आदि परम्परागत साधना ही सही है। सेवा-कार्य माया के बन्धन स्वरूप हैं। वे संन्यासियों के लिए नहीं हैं। एक बार श्रीमाँ सारदा देवी वाराणसी आईं। तब मास्टर महाशय भी वहाँ थे। श्रीमाँ सारदा देवी रामकृष्ण मिशन का अस्पताल देखने गईं। वहाँ संन्यासियों को रोगियों की सेवा करते देखकर अत्यन्त संतुष्ट होकर बोलीं, 'श्रीरामकृष्ण देव यहाँ साक्षात विराजमान हैं। यही ठीक-ठीक नारायण सेवा है।' श्रीमाँ सारदा देवी ने प्रसन्न होकर दस रुपये का एक नोट दान दिया था। आज तक वाराणसी सेवाश्रम में वह नोट संभाल कर रखा हुआ है।

इसके बाद मास्टर महाशय को भी कहना पड़ा, 'श्रीमाँ भी जब इस सेवाधर्म को स्वीकार कर रही हैं, तब तो माने बिना कोई उपाय नहीं।

स्वामी विवेकानन्द के 'सेवायोग' का आह्वान संपूर्ण रूप से ग्रहण करनेवाले गुरु-भाइयों में सबसे मुख्य नाम है – स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज का। रामकृष्ण मिशन का सबसे प्रथम राहत-कार्य उन्होंने ही पश्चिम बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले में प्रारम्भ किया था। इस राहत-कार्य को प्रारम्भ करने के लिए स्वामी अखंडानन्द जी महाराज के जीवन में घटित एक प्रसंग महत्त्वपूर्ण है।

१८९७ ई. में नवद्वीप धाम का दर्शन करके स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज मुर्शिदाबाद की ओर जा रहे थे। रास्ते में दाउदपुर, महुला आदि गाँवों की बुरी परिस्थिति देखकर उनका हृदय अत्यन्त व्यथित हो गया। तब उनके पास केवल चार आने थे। रास्ते में उन्होंने देखा कि एक मुस्लिम लड़की जोर-जोर से रो रही है। पूछने पर पता चला कि उसका मिट्टी का बर्तन टूट गया है। घर में कुछ खाने को नहीं है, न दूसरा बर्तन है। घरवाले उसे मारेंगे – इस डर से वह रो रही है। स्वामी अखंडानन्द जी ने उसे घड़ा और मुरमुरा खरीदकर दे दिया। वह देखकर उनके पास भूखे बालक-बालिकाओं की भीड़ लग गई। उन्होंने बाकी बचे पैसों से मुरमुरा और चिउड़ा खरीदकर बच्चों में बाँट दिया और सच्चे अर्थ में फ़कीर बन गए। उनके दुख देखकर उनका हृदय विदीर्ण हो गया। वहीं से उन्हें सेवा करने की प्रेरणा मिली। उनकी तीर्थयात्रा वहीं पूर्ण हो गई। वे वहाँ राहत कार्य में लग गए। बाद में उन्होंने अनाथाश्रम खोला और अनेक सेवाकार्य किए।

भारत के परिभ्रमण के क्रम में एक वर्ष से अधिक समय तक वे जामनगर में ठहरे थे । वहाँ झंडूभट के

सेवाभाव से वह बहुत प्रभावित हुए थे। झंडूभट के बारे में स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा, 'मैं बहुत से स्थानों पर गया हूँ, बहुत से अच्छे लोगों से मिला हूँ, पर झंडूभट जैसा उदार मनुष्य कहीं नहीं देखा।'

आधुनिक मानव को 'सेवायोग' के लिए आह्वान

आधुनिक मानव के लिए सरल और सर्वश्रेष्ठ मार्ग है 'सेवायोग'। २७ अक्तूबर, १८९४ के दिन अमेरिका से स्वामी विवेकानन्द ने एक प्रेरणादायी पत्र में लिखा था – 'भगवान को खोजने तुम कहाँ जाओगे? – क्या ये गरीब, दुखी और दुर्बल भगवान नहीं है? पहले उनकी पूजा क्यों नहीं करते? गंगा-तीर पर कुआँ खोदने क्यों जाते हो?'

अपने प्रिय गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज को स्वामी विवेकानन्द जी ने १८९४ में अमेरिका से एक पत्र लिखा था, 'खेतड़ी नगर के गरीब और नीच जातियों के द्वार-द्वार जाओ और उन्हें धर्म का उपदेश दो। उन्हें भूगोल तथा अन्य इसी प्रकार के विषयों की मौखिक शिक्षा दो। आलस्य में बैठकर, राजप्रसाद खाकर और 'हे प्रभु रामकृष्ण' कहने से कोई लाभ नहीं हो सकता, जब तक कि गरीबों का कुछ कल्याण न करो। ...तुमने पढ़ा है – 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' अपनी माता को ईश्वर समझो, अपने पिता को ईश्वर समझो, परन्तु मैं कहता हूँ, 'दरिद्रदेवो भव', 'मूर्खदेवो भव' – गरीब, निरक्षर, मूर्ख और दुखी इन्हें अपना ईश्वर मानो। इन लोगों की सेवा करना ही परम धर्म समझो।'

इग्लैंड की मिस मार्गरेट नोबल को अपने जीवन को 'सेवायोग' के लिए बलिदान करने के लिये स्वामी विवेकानन्द जी ने अत्यन्त प्रेरणादायी पत्र में ७ जून, १८९९ को लिखा था – 'जगत को प्रकाश कौन देगा? अतीत में बलिदान का 'नियम' था, और युगों तक ऐसा ही रहेगा। संसार के वीरों को और सर्वश्रेष्ठों को बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' अपना बलिदान करना होगा। असीम दया और प्रेम से परिपूर्ण सैकड़ों बुद्धों की आवश्यकता है। ... महामना उठो ! संसार दुःखों से जल रहा है। क्या आप सो सकती हैं? मिस नोबेल ने यह पुकार सुनी, अपने समस्त जीवन को भारतमाता की सेवा के लिए, नारी शिक्षा के कार्य में निवेदित कर दिया। इसलिये स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें ब्रह्मचर्य की दीक्षा देते समय नाम दिया – 'निवेदिता'।

१८९७ में विदेश में वापस आकर स्वामी विवेकानन्द जी रामेश्वरम् मंदिर के दर्शन के लिए गए थे, वहाँ उन्होंने अपने ऐतिहासिक भाषण में कहा था, 'सारी उपासना का सार है पवित्र होना और दूसरों की भलाई करना। जो शिव को दीन-हीन, दुर्बल और रोगियों में देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है।'

स्वामी विवेकानन्द जी ने संस्कृत, अँग्रेजी और बंगला भाषा में अनेक काव्यों की रचना की है। उनका एक अत्यन्त प्रेरणादायी बंगला काव्य 'सखार प्रति' (सखा के प्रति) में उन्होंने शिव-ज्ञान से जीव-सेवा का आह्वान करते हुए कहा है –

प्रेमवत्स ! सब स्वार्थ-मलिनता अनलकुण्ड में भस्मीकृत।
कर दो, सोचो भिक्षुक-हृदय सदा का ही है सुख वर्जित।।
और कृपा के पात्र हुए भी तो क्या फल? तुम बारम्बार।
सोचो, दो, न वापस लो यदि हो अन्तर में कुछ भी प्यार।।
हो अनन्त के तुम अधिकारी सिन्धु प्रेम का भरा अपार।
अन्तर में, 'दो' जो चाहे, हो बिन्दु सिन्धु उसका निसार।।
ब्रह्म और परमाणु कीट तक, सब भूतों का है आधार।
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके चरणों में दो तन-मन वार।।
बहु रूपों से खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ है ईश?
व्यर्थ खोज ! यह जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।।

आधुनिक मानव धन कमाने, कैरियर बनाने, जीवन व्यवहार के कार्यों में इतना व्यस्त है, दैनन्दिन समस्याओं में इतना उलझा है कि उसके पास प्रार्थना-भजन करने, ध्यान करने, ज्ञान-चर्चा करने का समय ही नहीं है ! आधुनिक मानव का मन इतना चंचल है कि ध्यान में मन लगता ही नहीं। इसलिए राजयोग की साधना में वह आगे नहीं बढ़ सकता। आधुनिक मानव पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से संशयवादी बन गया है। ईश्वर में सच्ची श्रद्धा नहीं है, फिर 'भक्तियोग' और साधना कहाँ से होगी? 'ज्ञानयोग' की साधना के लिए अति आवश्यक विवेक-वैराग्य की शक्ति आधुनिक मानव के पास नहीं है। इसलिए स्वामी विवेकानन्द जी ने आधुनिक युग के अनुकूल, सरलतम और श्रेष्ठतम साधन 'सेवायोग' – कर्मयोग की साधना के लिए आधुनिक मानव का आह्वान किया है। ○○○

स्वामी अखण्डानन्द का त्यागमय जीवन

दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर के विशाल घाट पर चाँदनी छटा में श्रीरामकृष्ण देव खड़े होकर गंगाजी का दर्शन कर रहे थे। घाट पर दो नावें लगी हुई थीं, तथा मल्लाह लोग किसी विषय को लेकर आपस में झगड़ रहे थे। झगड़ा क्रमश: बढ़ता गया और बलवान व्यक्ति ने दुर्बल की पीठ पर बहुत जोर से तमाचा जड़ दिया। इससे श्रीरामकृष्ण देव चीख उठे। उनका वह व्याकुल क्रन्दन सुनकर उनके भानजे हृदयराम दौड़कर आए, देखा कि श्रीरामकृष्ण देव की पीठ आरक्त हो गई है तथा सूज गई है। क्रोध से अधीर हृदयराम बारम्बार कहने लगा, "मामाजी, मुझे बता दो कि आपको किसने मारा है; मैं उसको छोड़ूँगा नहीं।" श्रीरामकृष्ण देव के शान्त होने पर जब उसने सुना कि मल्लाहों के झगड़े के कारण उनकी पीठ सूज गई है, तो वह स्तम्भित होकर सोचने लगा, क्या यह भी कभी सम्भव है?

अद्वैत वेदान्त दर्शन की पराकाष्ठा हमें उपरोक्त दृष्टान्त में मिलती है। विज्ञानी महापुरुष एकत्व की अनुभूति कर सर्व प्राणियों में ईश्वर को देखते हैं । जीव को दु:खी देखकर उनका हृदय उद्वेलित हो जाता है और वे उनकी सेवा के लिए अग्रसर होते हैं। उनका प्रत्येक कार्य जगत के कल्याणार्थ ही होता है। परवर्तीकाल में इसी अद्वैत ज्ञान के अनेकत्व में एकत्व के ज्ञान का स्वामी विवेकानन्द ने व्यावहारिक वेदान्त के रूप में प्रचार किया।

कलियुग में अन्नगत प्राण होने से अधिकांश व्यक्तियों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे हिमालय में जाकर निर्जनवास कर तपस्या करें। इसलिए स्वामी विवेकानन्द ने 'शिवभाव से जीवसेवा' का महामन्त्र देकर सेवायोग का उपदेश एवं प्रचार किया। जिस ब्रह्म शब्द को हम अब तक शास्त्र-ग्रन्थ तथा बौद्धिक मीमांसा तक ही सीमित करते आए हैं, उसी ब्रह्म के मूर्तस्वरूप जीव की सेवा कर व्यक्ति अपने सर्वोच्च अभीष्ट तक पहुँच सकता है, यह मार्ग स्वामीजी ने दिखलाया। दरिद्र, रोगी, निरक्षर, दुखी जीव की निरभिमानपूर्वक सेवा द्वारा व्यक्ति का चित्त शुद्ध होता है। सभी साधनाओं का मूल एकमात्र चित्तशुद्धि ही है। मन पवित्र होने से ही हमें सच्चिदानन्दमय स्वरूप का बोध होता है और मनुष्य जन्म सार्थक होता है। स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित शिवभाव से जीवसेवा का सर्वप्रथम कार्यान्वयन उनके गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द जी ने किया था।

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद स्वामी विवेकानन्द और उनके कुछ गुरुभाई तीर्थयात्रा, तपस्या आदि में अपना समय बिताने लगे। स्वामी अखण्डानन्द जी ने परिव्राजक के रूप में हिमालय आदि स्थान तथा तीन बार तिब्बत की यात्रा की थी। उस समय तिब्बत की यात्रा करना बहुत ही दुष्कर माना जाता था। वे बहुत ही साहसी, निडर, उदारमना, और त्याग-वैराग्य के मूर्तिमान थे। उनका तप:प्रवण मन सदैव ईश्वर में लगा रहता था। बाह्य जगत के प्रलोभन काम-कांचन और नाम-यश उनमें लेशमात्र भी नहीं थे। परिव्राजक जीवन में उन्होंने अपने पास एक पैसा तक न रखा था। वे एक आदर्श अकिंचन संन्यासी थे। एक बार वे दिल्ली में एक बगीचे में एक बेंच पर बैठे हुए थे। दो मारवाड़ी सज्जन उनके पास आकर बैठे। यहाँ-वहाँ की बातें हुई। वे सज्जन उन्हें कुछ रुपया देना चाहते थे। अखण्डानन्द जी के अस्वीकार करने पर उन्होंने कहा, 'दक्षिणेश्वर में रामकृष्ण परमहंस को एकबार रुपये देने गया था, वे चिल्ला उठे थे।' तब अखण्डानन्द जी को ज्ञात हुआ कि ये वही लक्ष्मीनारायण मारवाड़ी हैं, श्रीरामकृष्ण के भक्त। भक्त भी यह जानकर अभिभूत हुए कि सचमुच में श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्य त्याग और वैराग्य के ज्वलन्त मूर्तिमान हैं।

उनके भीतर प्रचण्ड अध्यवसाय था। वे कहते हैं, 'हिमालय के शिखर पर शिखर लाँघे हैं। एक शिखर पार करने पर देखता हूँ – और एक शिखर आँखों के सामने खड़ा है। थोड़ा विश्राम करने के बाद ही विचार उठता कि कब उसे भी पार कर लूँ। पुन: प्रयत्न – पुन: चलना ! सत्य कहता हूँ, तुममें से अधिकांश लोग कर्म के अधिकारी हो – कर्म करो, कर्म करो, जब तक थक न जाओ। पर हाँ, यह भाव सर्वदा मन में रखना कि भगवान का, ठाकुर का काम कर रहा हूँ। नहीं तो समस्या है।' गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं,

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्तवा करोति य: ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।

श्रीशंकराचार्य ची इस श्लोक के भाष्य में कहते हैं, 'ब्रह्मणि ईश्वरे आधाय निक्षिप्य तदर्थं करोमि इति भृत्य इव स्वाम्यर्थं सर्वाणि कर्माणि मोक्षे अपि फले सङ्गं त्यक्तवा करोति य: सर्वकर्माणि।' अर्थात् 'जो स्वामी के लिए कर्म करनेवाले सेवक की भाँति मैं ईश्वर के लिए करता हूँ', इस भाव से सब कर्मों को ईश्वर में अर्पण करके, यहाँ तक कि मोक्षरूप फल की भी आसक्ति छोड़कर कर्म करता है, वह

जैसे कमल का पत्ता जल में रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता, वैसे ही पापों से लिप्त नहीं होता।

हम जो भी सेवाकार्य करें, उसके पीछे हमारा अधिष्ठान ईश्वर ही रहें। स्वामी अखण्डानन्द बार-बार इस बात से सावधान कराते थे। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि माया छद्म रूप में दया, सेवा आदि का रूप लेकर आती है। सेवा करते-करते नाम-यश और अन्य स्वार्थपरक एषणाएँ मन के अन्दर घुसकर उसको कलुषित कर देती हैं। इस विषय में स्वामी अखण्डानन्द जी अपनी साधना का उल्लेख कर कहते हैं, 'अकेला मौन रहकर गम्भीरतापूर्वक विचार करता, ध्यान करता – एक गाल पर चन्दन लगा है, तो दूसरे पर विष्ठा। सोचता – अभी ही कोई मुझे फूल की माला पहनाकर सम्मानपूर्वक ले गया, और उसके बाद ही आकर कोई मेरा अपमान कर रहा है, मुझे भगा रहा है, मेरे शरीर पर गन्दा पानी फेंक रहा है, पर मैं मानो सब अवस्था में स्थिर हूँ।' सेवाकार्य को यदि अन्य आध्यात्मिक साधना, जैसे जप, ध्यान, प्रार्थना, ईश्वर-शरणागति के साथ जोड़ा जाए तो सेवक और सेव्य दोनों धन्य हो जाते हैं।

एकबार वे तिब्बत के बर्फीले पहाड़ों से अपने सामान्य गरम वस्त्रों के साथ नंगे पाँव जा रहे थे। सन्ध्या समय कोई आश्रय न पाकर वे खुले में ही बर्फ पर सो गए। सौभाग्यवश अगले दिन प्रात:काल निकटवर्ती बौद्ध मठ के एक साधु जलाने की लकड़ी ढूँढ़ते उधर आए और उन्हें उस अवस्था में देखकर यत्नपूर्वक अपने मठ में ले आए। उस बेहोशी की सी अवस्था में नग्नप्राय स्वामी अखण्डानन्द के शारीरिक लक्षणों को देखकर बौद्ध मठ के लामागण आश्चर्यचकित होकर कह उठे, 'अरे यह तो अखण्ड ब्रह्मचारी है।' आग की सेंक तथा अन्य प्रकार की सेवा-शुश्रूषा करके उन्होंने परिव्राजक संन्यासी को स्वस्थ कर दिया।

स्वामी अखण्डानन्द जी को हिमालय, तिब्बत आदि की अच्छी जानकारी थी। वे यात्रा पूरी कर वराहनगर मठ पहुँचे। स्वामी विवेकानन्द सहित अनेक गुरुभाई वहाँ रहकर त्याग-तपस्या में अपने दिन बिता रहे थे। अपने गुरुभाई अखण्डानन्द से केदार, बदरी, कैलाश इत्यादि का मनोरम वर्णन सुनकर स्वामी विवेकानन्द ने उनसे कहा, "हाँ, तेरे जैसे आदमी की ही मुझे आवश्यकता है, जो मेरे हिमालय भ्रमण का संगी हो सके।" तदनन्तर उन दोनों ने सात-आठ महीनें एक साथ परिव्राजक जीवन व्यतीत किया। इसके बाद स्वामी विवेकानन्द एकाकी परिव्राजक जीवन जीने की इच्छा से उनसे अलग हो गए और कुछ समय बाद शिकागो की धर्ममहासभा में भाग लेने गए।

स्वामी अखण्डानन्द परिव्राजक जीवन में कुछ समय जामनगर (गुजरात) में थे। वहाँ एक आश्रम में वे एक ब्रह्मचारी के पास जाया करते थे। आश्रम को राज्य की ओर से देवोत्तर भू सम्पत्ति प्राप्त थी। ब्रह्मचारी का कोई शिष्य नहीं था और वृद्ध हो जाने के कारण उन्होंने अखण्डानन्दजी से महन्त की गद्दी स्वीकार करने के लिए कहा। किन्तु त्यागी संन्यासी ने उन्हें स्पष्ट कह दिया, 'पानी तो चलता भला, साधु तो रमता भला। मैं परिव्राजक हूँ, महन्त नहीं बन सकता।' वहाँ उनकी भेंट प्रसिद्ध वैद्य झण्डू विट्ठल भट से हुई। उनकी निर्धन एवं रोगियों के प्रति सेवाभाव को देख स्वामी अखण्डानन्द जी बहुत प्रभावित हुए थे। भटजी की आयु उस समय लगभग सत्तर वर्ष की थी। वे भावपूर्वक अस्फुट स्वर में प्राय: ही रन्तिदेव कथित इस श्लोक की आवृत्ति किया करते थे।

को नु स्यादुपयोऽत्र येनाहं सर्वदेहिनाम्।
अन्तः प्रविश्य सततं भवेयं दुःखभारभाक्।।

– इस संसार में ऐसा कौन सा उपाय है, जिसके द्वारा मैं समस्त दुखी प्राणियों के शरीर में प्रवेश कर स्वयं ही सतत उनके दुखों का भोग करता रहूँ।

अखणडानन्द जी भी मन्त्र की भाँति इस श्लोक का बारम्बार उच्चारण किया करते थे। एक अन्य श्लोक भी उनको विशेष प्रेरित करता था, जिसका भावार्थ है, 'मैं स्वर्ग या वैकुण्ठ का सुख नहीं चाहता, जहाँ मनुष्य की सेवा का कोई अवसर ही नहीं है।' एक बार उनके मुख से यही श्लोक सुनकर स्वामी विवेकानन्द के नेत्र भी छलछला उठे थे। भटजी की मानव-सेवा से अखण्डानन्द जी इतना अभिभूत हो गए कि वे लिखते हैं, 'मनुष्य से प्रेम करना तथा उसकी सेवा करना ही सर्वोत्तम वस्तु है, यह मैंने भटजी का जीवन देखकर विशेष रूप से हृदयंगम किया।'

शास्त्रों में सेवा-परोपकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसी परोपकार से ही यह जगत अपने स्थान पर स्थित है।

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः परोपकाराय सतां विभूतयः।।

– जैसे नदियाँ अपने जल को स्वयं नहीं पीतीं, वृक्षगण अपने फलों को स्वयं नहीं खाते, पानी बरसाने वाले बादल अपने पैदा किये हुए अन्न को स्वयं नहीं खाते, वैसे ही महापुरुषों की विभूतियाँ (गुण तथा सम्पत्तियाँ) उनके अपने भोग हेतु नहीं, अपितु परोपकार के लिए होती हैं। सूर्य-चन्द्रमा प्रकाश

देते हैं, वृक्ष फल देते हैं, गाय के दूध से संसार हृष्ट-पुष्ट होता है, इत्यादि दृष्टान्तों से मानो प्रकृति स्वयं हमें सिखाती है कि यह जीवन सेवा के लिए ही है। एक व्यक्ति एक छोर से दूसरे छोर को पार करने के लिए एक पुल का निर्माण करता है, और आनेवाली पीढ़ियाँ उस पुल से सहजता से पार हो जाती हैं। यही बात महापुरुषों के बारे में है, वे अपने जीवन एवं उपदेशों द्वारा एक सेतु का निर्माण करते हैं और अनगिनत लोग उससे लाभान्वित होते हैं।

अखण्डानन्द जी को पता चला कि स्वामी विवेकानन्द अमेरिका गए हुए हैं। उनका अमेरिका जाने का उद्देश्य था, अपने देश और देशवासियों की सेवा का मार्ग ढूँढ़ना। कुछ लोगों को आश्चर्य हो सकता है कि एक संन्यासी को इन सब प्रपंचों से क्या लेना-देना? स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं इसके बारे में लिखा है, 'यह सब देखकर – विशेषकर देश का दारिद्र्य और अज्ञता देखकर मुझे नींद नहीं आती। मैंने एक योजना सोची तथा उसे कार्यान्वित करने का मैंने दृढ़ संकल्प किया। कन्याकुमारी में माता कुमारी के मन्दिर में बैठकर मैंने सोचा कि हम जो इतने संन्यासी घूमते-फिरते हैं और लोगों को दर्शनशास्त्र की शिक्षा दे रहे हैं, यह सब निरा पागलपन है। क्या हमारे गुरुदेव नहीं कहा करते थे कि खाली पेट से धर्म नहीं होता?'

भारतवर्ष उस समय पराधीन राष्ट्र था। स्वामीजी ने देखा कि आम जनता की उपेक्षा ही देश की अधोगति का मूल कारण है। देश के पददलित लोगों को अन्न-वस्त्र, शिक्षा और उन्हें अपनी खोई हुई अस्मिता दिए बिना देश का कल्याण नहीं होगा। वे कहते थे, पहले देश की भूखी जनता को रोटी देनी होगी, धर्म इसके बाद आएगा। उन्होंने देश के लोगों के सम्मुख त्याग और सेवा का नवीन मन्त्र दिया। आज से लगभग १२२ वर्ष पहले, भारत जैसे पराधीन राष्ट्र में एक संन्यासी के नेतृत्व में इस तरह के सेवाकार्य का शुभारम्भ करना, एक अकल्पनीय विषय था। यद्यपि इतिहास की ओर दृष्टि डालें, तो भगवान बुद्ध तथा उनके अनुयाइयों ने इस तरह के अनेक सेवाकार्य किए थे। धर्म को क्षति पहुँचाए बिना ही जनता की उन्नति और वेदान्त द्वारा प्रतिपादित 'एकमेवाद्वितीयम्' को आधार बनाकर सेवाकार्य करना और उसे ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में चित्तशुद्धि का साधन समझना, इस मार्ग का नवारम्भ निस्सन्देह स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण देव के निर्देशानुसार किया। अमेरिका में रहते समय स्वामीजी पत्रों द्वारा अपने शिष्यों और विशेषकर अपने संन्यासी गुरुभाइयों को इस ओर प्रेरित करते थे। उनके गुरुभाइयो में जनमानस में इसका सर्वप्रथम कार्यान्वन स्वामी अखण्डानन्द जी ने किया था।

गुजरात राज्य में झंडू भट जी की सेवापरायणता से अखण्डानन्द जी विशेष आकृष्ट हुए थे। उसके बाद वे राजपुताना गए। घूमते-घूमते वे स्वामीजी के शिष्य खेतड़ी नरेश राजा अजीत सिंह के यहाँ पहुँचे। राजा ने उनकी आसपास के गाँवों में माधुकरी भिक्षा और रहने की व्यवस्था की। लगभग आठ महीने राजपुताना में भ्रमण के दौरान वहाँ के निर्धन प्रजा की चरम दुर्दशा और उनकी पशुवत जीवनयात्रा देखकर अखण्डानन्द जी को बहुत पीड़ा हुई। उन्होंने अमेरिका में स्वामीजी को पत्र लिखकर सूचित किया कि गरीब प्रजा के दुख दूर करने का उन्होंने जो संकल्प किया है, वह उचित है या नहीं। उन्हें स्वामीजी का पत्र प्राप्त हुआ, 'गेरुआ वस्त्र भोग के लिए नहीं है, यह महाकर्म का ध्वज है – तन, मन और वाणी से अपने को जगद्धिताय अर्पित कर देना होगा।'

पत्र पाकर अखण्डानन्द परम आनन्दित हुए और उत्साह के साथ वहाँ के दरिद्र लोगों की सेवा में लग गए। उन्होंने खेतड़ी नरेश को भी एक पत्र लिखकर बताया कि प्रजा के प्रति राजा का क्या कर्तव्य है। वे पाठशाला में गरीब बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था करवाते, गाँव-गाँव घूमकर रोगियों को राजा की अस्पताल में भर्ती करवाते। जिस ईश्वर की वे अब तक पूजा कर रहे थे और जिसके साक्षात्कार कर वे कृतकृत्य हुए थे, उसी परमात्मा को इन अशिक्षित, दरिद्र में देखकर और उनकी सेवा कर वे प्रतिक्षण आनन्द का अनुभव कर रहे थे। उनका यह निष्काम सेवाकर्म ज्ञानोत्तर कर्म था। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।(६.२९)

– योग से युक्त आत्मवान समदर्शी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है।

यह उनके कार्य की अथवा भविष्य में संगठित होने वाले रामकृष्ण मिशन की शुरुआत मात्र थी। राजपुताना में कुछ समय सेवाकार्य करने के पश्चात् वे श्रीरामकृष्ण जन्मोत्सव और अपने गुरुभाइयों से मिलने की इच्छा से आलमबाजार मठ गए। उस समय स्वामीजी भी अमेरिका की शिकागो धर्ममहासभा में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व कर एवं अपने व्याख्यानादि द्वारा वेदान्त का प्रचार कर भारत वापस लौटे थे। अनेक स्थानों पर उनका भव्य स्वागत हुआ। कलकता में दिए गए स्वागत भाषण में स्वामीजी ने अखण्डानन्दजी एवं उनके साहस का उल्लेख करते हुए कहा था, 'श्रीरामकृष्ण के

चरणस्पर्श से जिन मुट्ठी भर युवकों की सृष्टि हुई है, उनकी ओर देखो। ...उनमें से एक ने बर्फ पर नंगे पाँव ही चलते हुए बीस हजार फुट की ऊँचाई पर हिमालय को पार किया। उन्हें कितने ही अत्याचारों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।' स्वामीजी को अपने इस गुरुभाई के त्याग, साहस और सेवाकार्य पर बहुत गर्व था।

सारगाछी में स्वामी अखण्डानन्द ने एक अनाथालय एवं विद्यालय सहित आश्रम की स्थापना की थी। १९०७ ई. में बंगाल तथा उड़ीसा में भयानक अकाल पड़ा था। मुर्शिदाबाद जिले की अवस्था अत्यन्त दयनीय हो गई थी। वहाँ के लोग अखण्डानन्द जी को अपने दुख की बातें सुनाया करते थे। आश्रम में उन दिनों विद्यालय के दो शिक्षक, एक बढ़ई, दो बुनकर, रसोइया तथा सेवक के अतिरिक्त बारह-तेरह बालक निवास कर रहे थे। अकाल से पीड़ित दीन-दुखियों की हालत देखकर वे इतना विह्वल हो गए कि उन्होंने अन्न-ग्रहण करना छोड़ दिया। प्रारम्भ में तो किसी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया। उपवास के कारण उनका शरीर दुर्बल होता जा रहा था। वे भी अकाल-पीड़ितों की तरह शाक-पात खाकर अपना जीवन चलाने लगे। पाँच-सात दिनों में यह समाचार सबको ज्ञात हो गया। किसान यह देखकर अवाक् हो जाते कि उनके हितैषी अखण्डानन्दजी नमक के साथ शाक-पात खा रहे हैं, उनकी आँखें छलछला जातीं। आश्रमवासी उन्हें रो-रोकर कहते, 'महाराज, यह आप क्या कर रहे हैं, यह क्या खा रहे हैं।' एक दिन आश्रम के बालकों ने निश्चय किया, 'बाबा के चावल न खाने तक हम भी नहीं खाएँगे।' तब अखण्डानन्दजी ने अन्न ग्रहण करना स्वीकार किया। लगभग पाँच महीनों तक वे इसी तरह शाक-पत्तियों का आहार ले रहे थे।

इस प्रसंग में अखण्डानन्द जी ने बाद में बताया था, 'उन दिनों मेरे मन की ऐसी अवस्था हो गई थी कि लगता, हजारों-लाखों लोग भूख की पीड़ा से छटपटा रहे हैं, मर रहे हैं, और मैं अपने मुख में अन्न का कौर भला कैसे डालूँ।' भक्त नरसी मेहता ने अपने प्रसिद्ध भजन में सच्चे भक्त के लक्षण बताए हैं, '**वैष्णव जन तो तेने कहिये जे, पीर पराई जाने रे। परदुखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आने रे**।' सच्चे भक्त में सेवा का कभी अभिमान नहीं आता। सेवा करते समय सेवक का भाव होना चाहिए कि सेव्य के कारण मैं अपने दैवी गुणों का विकास कर रहा हूँ। संसार में रहकर दया, क्षमा, सरलता आदि जितने भी गुणों को साधक जीवन में लाना चाहता है, वे उसे अन्य व्यक्तियों के साथ अपने आध्यात्मिक व्यवहार से प्राप्त हो सकेंगे। जैसे निर्बल पर दया दिखाना, क्षमा करना और दूसरों के साथ अपने आचरण में सरल होना। ठीक इसी तरह दूसरों की सेवा करके हम अपना अन्त:करण शुद्ध करने का प्रयास करते हैं। सेवा स्वीकार करने वाले की अपेक्षा सेवा करनेवाले को ही स्वयं को धन्य समझना चाहिए।

एक दिन उनके एक सेवक ने उनसे कहा, 'आप क्यों इस शोक-रोग-दुख से परिपूर्ण अनाथाश्रम रूपी यमालय में पड़े हुए हैं? यहाँ कोई भी नहीं रहना चाहता और आप भी सर्वदा रोग से कष्ट भोगते हुए दुर्बल हो गए हैं।' अखण्डानन्दजी ने थोड़ा हँसकर कहा, 'भाई, जहाँ पर सुख-शान्ति है, दुख-कष्ट का लेश मात्र भी नहीं है, वहाँ तुम्हीं लोग रहो और जहाँ पर लोग रोग-शोक, अकाल-महामारी आदि से कष्ट पा रहे हों, मैं वहीं जाकर उनकी सेवा करना चाहूँगा। मेरी कामना है कि ठाकुर प्रत्येक जन्म में मुझे ऐसे ही स्थानों में भेजे। तुम्हारे सुखमय स्वर्ग की मुझे इच्छा नहीं।'

मार्च १९३४ में वे विश्वव्यापी रामकृष्ण संघ के तृतीय संघाध्यक्ष हुए। वृद्धावस्था में भी वे सेवाकार्यों की खबर रखते थे। एक दिन वे बेलूड़ मठ के कमरे में बैठे हुए थे। सामने कई साधु-ब्रह्मचारी खड़े थे। उस समय बिहार में भीषण भूकम्प आया था। भूकम्प पीड़ित लोगों का वर्णन करते उनका मुखमण्डल गम्भीर हो उठा, नेत्र सजल हो गए। वे कहने लगे, 'ठाकुर से मैंने रो-रोकर कहा था – ठाकुर मैं वृद्ध और दुर्बल हो गया हूँ, नहीं तो आज जाकर अपने हाथों उन लोगों की सेवा करता।' सामने उपस्थित साधु-ब्रह्मचारियों से कहने लगे, 'तुम लोग इन सेवाकार्यों में पूरी तरह से समर्पित हो जाओ, तभी मुझे शान्ति मिलेगी।'

स्वामी अखण्डानन्द जी को स्वामीजी के प्रति बहुत प्रेम था। स्वामीजी के शिवभाव से जीवसेवा के आदर्श को उन्होंने जीवनभर चरितार्थ किया। स्वामीजी के इस सन्देश के प्रसंग में वे कहते, 'त्याग और सेवा ही श्रेष्ठ यज्ञ तथा श्रेष्ठ धर्म हैं; अपना स्वार्थ त्याग कर आत्मज्ञान से सबकी सेवा करना, यही तो कर्मयोग है और इसी को सेवाधर्म कहते हैं। जो साधन है, वही सिद्धि भी है। सेवा से चित्तशुद्धि होती है, सेवा से हृदय का विस्तार होता है और सेवा से सर्वभूतों में आत्मदर्शन होता है; आत्मज्ञान के बाद विश्वप्रेम आता है और तब यह अनुभूति समझ में आती है, 'ब्रह्म और परमाणु कीट तक, सब जीवों में वही प्रेममय है। जीवसेवा ही शिवसेवा है। जीव भला है ही कौन? सब शिव ही तो है।' ○○○

स्वामी अखण्डानन्द
(१८६४-१९३७)
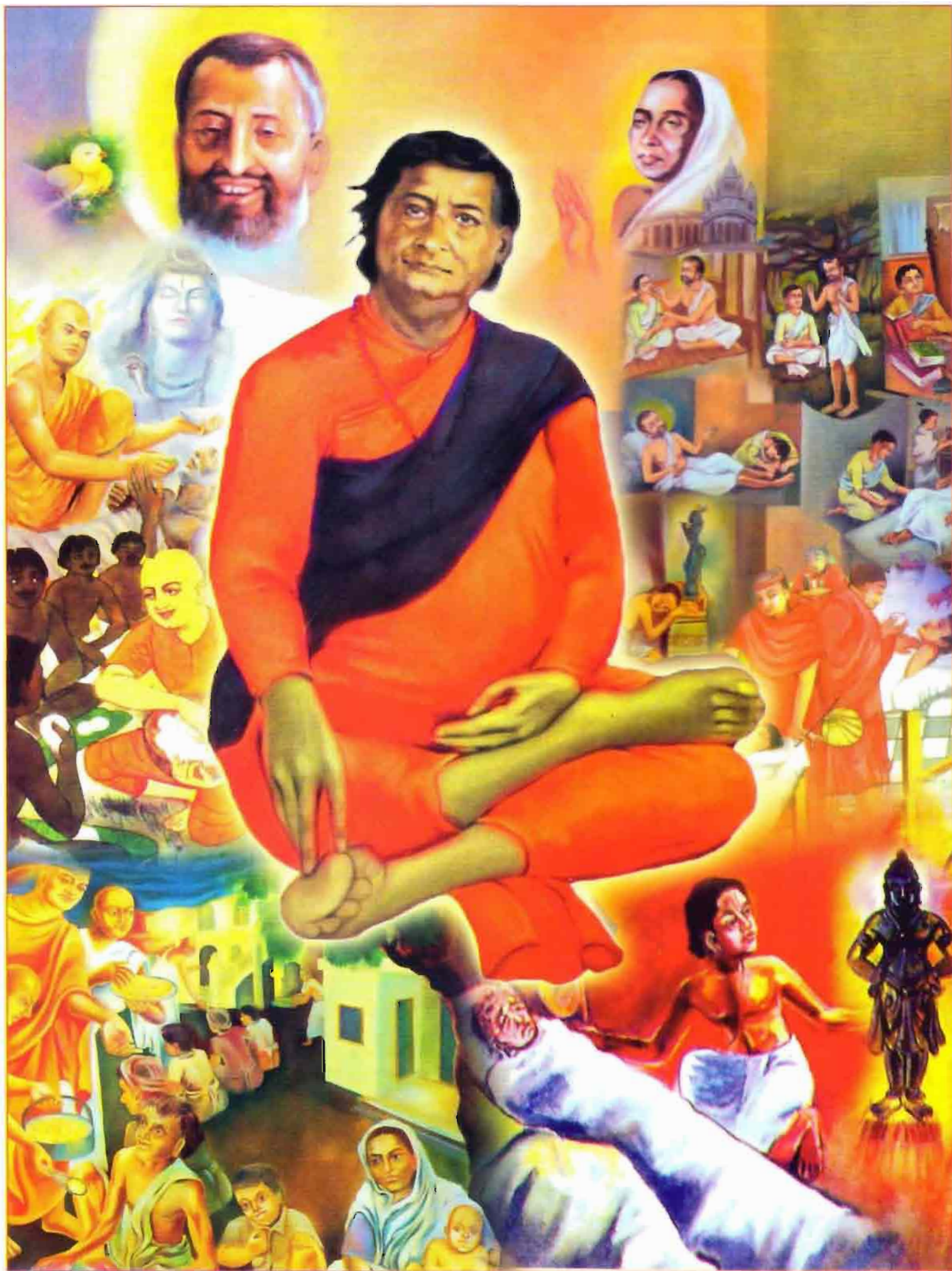
स्वामी अखण्डानन्द की सेवा-भूमि सारगाछी आश्रम

रामकृष्ण संघ के विभिन्न केन्द्रों में डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम

बेलूड़ मठ

दिल्ली

वड़ोदरा
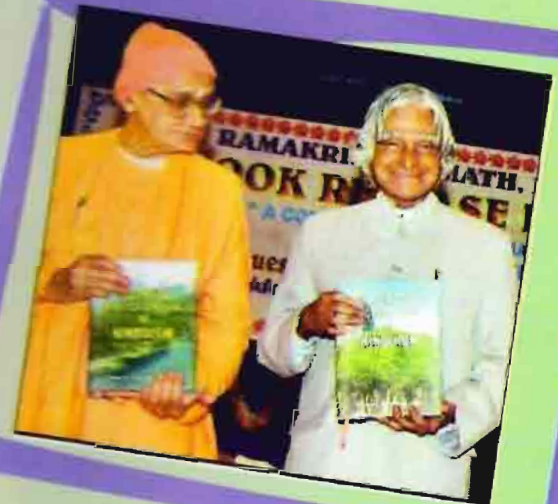
बैंगलोर

पुणे

पोरबन्दर

भारतमाता के सच्चे सपूत : डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम

युवा मन उच्च-आदर्श को केवल स्वप्न में देखता है, किन्तु इस आदर्श को कार्य में परिणित करने के लिए जिस प्रचण्ड अध्यवयसाय, दृढ़ निष्ठा और एकनिष्ठ भक्ति की आवश्यकता होती है, उसे भूल जाता है। यह सत्य है कि किसी भी महान कार्य का आरम्भ पहले उन्नत विचारों के द्वारा होता है। ये विचार ही भविष्य में होने वाले महान व्यक्ति की केवल जागृत अवस्था में ही नहीं अपितु उसके स्वप्न जगत में भी प्रवेश कर जाते हैं।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, 'एक विचार लो, उसी को अपना जीवन बनाओ, उसीका चिन्तन करो, उसी का स्वप्न देखो और उसी में जीवन बिताओ।' स्वामीजी के इन्हीं अग्निमन्त्रों की प्रतिध्वनि हमें मिलती है भारत रत्न - मिसाइल मैन - महान वैज्ञानिक - पूर्व राष्ट्रपति - बच्चों के प्यारे और सर्वोपरि भारतमाता के सच्चे सपूत डा. ए. पी. जे अब्दुल कलाम के शब्दों में। वे कहते हैं कि,'स्वप्न वह नहीं है, जो आप नींद में देखें, पर स्वप्न वह है, जो आपको नींद नहीं आने दे।' २७ जुलाई, २०१५ को डा. कलाम जी का आकस्मिक निधन सम्पूर्ण देश के लिए एक बहुत बड़ा आघात था। एक ऐसी अपूरणीय क्षति जिससे पूरा देश विह्वल हो गया। उनके निधन के अनेक दिनों बाद तक भी समाचार पत्र, टी.वी., पत्रिकाओं और सोशल वेबसाइट्स में उनके महान जीवन और महान कार्य की चर्चाएँ चलती रहीं और अभी भी चल रही हैं।

मैं भी आकाश में उड़ानें भरूँगा

डॉ. कलाम जी का जन्म रामेश्वरम् के एक मध्यम वर्गीय तमिल परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री जैनुलाबदीन लकड़ी की नौकाएं बनाते थे, जो तीर्थयात्रियों को रामेश्वरम् से धनुषकोटि के परिवहन में काम आती थीं। उनकी माँ भी सादगी और उदारता की मूर्ति थीं। वे अपने घर में प्रतिदिन अनेक लोगों को भोजन कराती थीं। वैज्ञानिक के रूप में कार्य करते समय डॉ. कलाम जी अनेकों बार अपने पिताजी के उपदेशों का स्मरण करते और इन उपदेशों के द्वारा उन्हें एक अभूतपूर्व मार्गदर्शन मिलता था। वे कहते हैं, 'पिताजी से प्राप्त मूलभूत शिक्षा से मैंने यह समझने का प्रयास किया कि ऐसी कोई दैवी शक्ति अवश्य है जो हमें भ्रम, दुखों, विषाद और असफलता से छुटकारा दिलाती है तथा सही मार्गदर्शन करती है।'

बचपन से ही कलाम जी का मन शोध-परक था। जीवन के प्रत्येक पहलू को वे बड़ी बारीकी से देखते और उसके तत्त्व को समझने की चेष्टा करते। किन्तु उनके इस अवलोकन में कहीं भी बाह्य आडम्बर अथवा अहंकार नहीं था। बचपन में वे आकाश एवं पक्षियों के उड़ने के रहस्य के प्रति आकर्षित थे। आश्चर्य हो सकता है कि एक साधारण परिवार में पलने वाला बालक किस तरह ऐसे स्वप्न देख सकता है? किन्तु सचमुच में उस बालक ने निश्चय किया कि वह भी आकाश में उड़ाने भरेगा और उनके ही शब्दों में, 'परवर्तीकाल में उड़ान भरनेवाला मैं रामेश्वरम् का पहला बालक निकला।'

संघर्ष और अध्यवसाय

अपनी बी. एस सी की पढ़ाई पूरी करने के बाद तकनीकी शिक्षा के लिए डा. कलाम ने मद्रास के एम. आइ. टी. कॉलेज में आवेदन भरा। वहाँ उन्हें प्रवेश तो प्राप्त हुआ किन्तु इसके लिए एक हजार रुपये की आवश्यकता थी। उनके पिताजी के पास इतने पैसे नहीं थे। तब कलाम जी की बहन जोहरा ने अपने हाथों के कड़े तथा हार गिरवी रखकर उनकी फीस के पैसे जमा कराए। युवक कलाम इससे इतने अभिभूत हो गए कि उन्होंने सोच लिया कि वे अपनी कमाई से अपनी बहन के जेवर छुड़ाएँगे। इसके लिए एक ही मार्ग था कि कड़ी मेहनत द्वारा पढ़ाई कर छात्रवृत्ति हासिल की जाए।

कॉलेज में रहते समय कलाम जी को एक लड़ाकू विमान की डिजाइन तैयार करने का कार्य सौंपा गया। उनके डिजाइन शिक्षक प्रो. श्रीनिवासन ने उनके कार्य की समीक्षा की और उसे निराशाजनक बताते हुए असन्तोष व्यक्त किया। डॉ. कलाम ने अपनी सफाई दी और कार्य पूरा करने के लिए एक महीने का समय माँगा। किन्तु प्रो. श्रीनिवासन ने उनकी एक भी नहीं सुना और कहा कि यदि तीन दिन में यह कार्य पूरा नहीं कर सके तो तुम्हारी छात्रवृत्ति रोक दी जाएगी। छात्रवृत्ति ही युवक कलाम के लिए सब कुछ थी और यह यदि रोक दी जाती तो उनके भविष्य की पढ़ाई के सारे द्वार बन्द हो जाते। उस रात को उन्होंने भोजन नहीं किया और रात भर ड्राइंग बोर्ड पर काम करते रहे। कठिन परिश्रम कर जब उनका कार्य तीन दिन के भीतर पूरा हो ही रहा था, तभी प्रो. श्रीनिवासन अचानक उनके कमरे में आ गए और उनका कार्य देखने के बाद उन्हें गले लगा दिया। कलाम जी की पीठ थपथपाते हुए उन्होंने कहा, 'मुझे थोड़ी भी आशा नहीं थी कि इतने भयंकर तनाव में भी तुम अपना कार्य पूरा कर लोगे।'

सबसे प्रिय छात्र

कॉलेज में वे बड़ी उत्सुकता से ब्रह्माण्ड विज्ञान से सम्बन्धित पुस्तकें पढ़ते थे। भारतीय प्राचीन शिक्षा पद्धति में गुरु का

स्थान महत्वपूर्ण है। गुरु के प्रति श्रद्धा से शिष्य दुरूह तथ्यों को भी सहजता से हृदयंगम कर सकता है। अध्यात्म अथवा विज्ञान किसी भी क्षेत्र में तत्त्व को समझने के लिए शिष्य को बौद्धिक मन्थन और प्रश्न करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं, 'उस ज्ञान को प्रणाम कर, सेवा द्वारा सरलतापूर्वक प्रश्न करने से तत्त्वदर्शी ज्ञानी उसका उपदेश करेंगे।' डॉ. कलाम जी सदैव अपने शिक्षक, अध्यापक और प्राध्यापकों के ऋणी रहे। वे मुक्त कण्ठ से उनकी प्रशंसा करते थे और अपनी सफलता का श्रेय भी उनको देते थे। एक छोटी सी घटना शिक्षकों के छात्र कलाम के प्रति उनके विश्वास को प्रकट करती है।

एम. आई. टी, चेन्नई में उनके स्नातक विदाई समारोह के समय एक सामूहिक फोटो खिंचवाना था। स्नातक पास करने वाले सभी छात्र पीछे की तीन पंक्तियों में खड़े थे और सभी प्रोफेसर प्रथम पंक्ति में खड़े थे। उनमें से प्रोफेसर स्पांडर थ जिन्होंने छात्र कलाम को विमान-गति का विषय पढ़ाया था। उन्होंने पीछे खड़े कलाम को बुलाया और कहा, 'यहाँ आगे मेरे साथ बैठो।' उन्होंने कलाम से कहा, 'तुम मेरे सर्वाधिक प्रिय छात्र हो। तुम्हारा कड़ा परिश्रम ही भविष्य में तुम्हारे शिक्षकों का नाम उज्जवल करेगा।' विदाई के समय प्रो. स्पांडर ने छात्र कलाम को आर्शीवाद देते हुए कहा, 'ईश्वर तुम्हारी आशाएँ पूर्ण करें, तुम्हारी सहायता करें, तुम्हें मार्ग दिखाएँ और भविष्य की यात्रा में तुम्हारे पथ-प्रदर्शक बनें।'

संस्कृति के प्रति प्रेम एव समर्पण की भावना

स्वामी विवेकानन्द कहते थे, 'हमारे पूर्वज महान थे। हमें यह स्मरण रहे कि हम किन उपादानों से बने हैं, कौन सा रक्त हमारी नसों में बह रहा है।...इस विश्वास और अतीत गौरव के ज्ञान से हम निश्चय ही पहले से भी श्रेष्ठ भारत बनाएँगे। डॉ. कलाम की मातृभाषा तमिल थी। उन्होंने तमिल में एक लेख – 'आइए, अपना स्वयं का विमान बनाएँ' लिखा था। लेख इतना सुन्दर था कि जब उन्होंने इस प्रतियोगिता के लिए भेजा तो उन्हें प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ। वे कहते थे, 'तमिल भाषा का उत्पत्ति काल रामायण काल से भी पहले अगस्त्य मुनि के समय का है और इसका साहित्य ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी का है।'

प्रार्थना के ऊपर कलाम जी का पूरा विश्वास था। देश के महानतम वैज्ञानिक बनने पर भी ईश्वर के प्रति उनकी आस्था और प्रार्थना की दृढ़ भावना अक्षुण्ण रही। प्रार्थना के बारे में वे कहते हैं, 'हमारे सृष्टि-कर्ता ईश्वर ने हमारे मन और व्यक्तित्व के भीतर अपार ऊर्जा एवं योग्यता दी है। प्रार्थना हमें इन शक्तियों को जागृत और विकास करने में सहायता करती हैं।'

रक्षा विभाग के शोध एवं विकास में कार्य करते समय कलाम जी को यह बात सदैव खटकती थी कि मिसाइल आदि बनाने के लिए बहुत सारे यन्त्र हमें अन्य देशों से आयात करने पड़ते हैं। वे चाहते थे कि किसी भी तकनीकी कल-पुर्जे के लिए हम अन्य देशों के ऊपर अवलम्बित न रहें। भारतीय युवा मन के पास क्षमताओं की कमी नहीं है। वे कहते थे, 'क्या इसका कोई उपाय नहीं है? क्या केवल स्क्रू-ड्राइवर लेकर कार्य करना ही इस देश की नियति है।' उन्होंने अपने विचारों को कार्य में परिणित किया। स्पेस लॉन्च वेहिकल और अन्य मिसाइल आदि बनाते समय जो भी रासायनिक पदार्थ एवं यन्त्र आदि की आवश्यकता होती थी, उन्हें भारत के ही उत्पादकों के द्वारा तैयार कराया गया। उनके नेतृत्व में नन्दी होवरक्राफ्ट, एस.एल.वा-३, पृथ्वी मिसाइल, अग्नि आदि का प्रक्षेपण हुआ।

एकाग्रता और कार्य-निष्ठा

स्वामी विवेकानन्द कहते थे, 'ज्ञान की प्राप्ति के लिए केवल एक ही मार्ग है और वह है 'एकाग्रता'।' डॉ. कलाम जी के लिए उनका कार्य मानो ईश्वर के प्रति पूजा बन गई थी। जब वे एस.एल.वी-३ के प्रक्षेपण के लिए कार्य कर रहे थे, तब उनके मन में और कोई विचार नहीं आता था। वे अपना दोपहर का भोजन करना तक भूल जाते और उन्हें भूख तक नहीं लगती। प्रयोगशाला में अनेकों दिन ऐसे गए कि शाम हो गई है, बाकी सब लोग चले गए हैं, केवल वे अकेले ही कार्य कर गए हैं। इस जुनून को कलाम जी 'फ्लो' कहते थे। इसके बारे में वे कहते, 'यह 'फ्लो' क्या है? यह आनन्द क्या है? मैं उन्हें जादू के क्षण कहूँगा। आप जब बैडमिंटन और सैर करने के समय जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, उस आनन्द की मैं इसे अनुरूपता कहूँगा।...तब भूत और भविष्य अदृश्य हो जाता है। स्वयं एवं कार्य के बीच का भी भेद चला जाता है। हम सभी एस.एल.वी (मिसाइल प्रक्षेपण) फ्लो के भँवर में आ गए थे। यद्यपि हम कठोर परिश्रम कर रहे थे, तथापि ऊर्जावान, स्फूर्त और आराम में थे।'

स्वामी विवेकानन्द के प्रति डॉ. कलाम जी की अपार श्रद्धा थी। वे कहते थे कि स्वामी विवेकानन्द ने भारत के युवाओं को प्रेरणास्पद सन्देश दिया। डॉ. कलाम जी ने रामकृष्ण संघ के अनेक केन्द्रों में युवाओं को सम्बोधित किया है। OOO
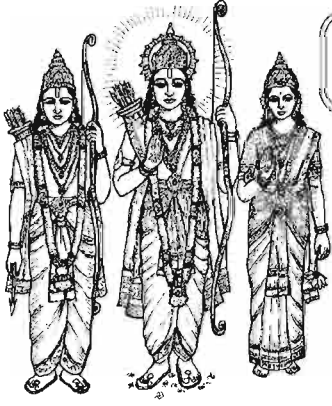
धर्म-जीवन का रहस्य (७/५)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक प्रवचन को 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी और सम्पादन 'विवेक-ज्योति' के पूर्व सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

कई लोग यह समझ लेते हैं कि भगवान राम तो सत्यवादी हैं, परन्तु श्रीकृष्ण कभी-कभी या बार-बार मिथ्या बोल देते थे। पर आप भगवान कृष्ण का वाक्य पढ़िए। उन्होंने धर्म की व्याख्या करते हुए युधिष्ठिर से कहा था – 'सत्य' का अर्थ केवल शब्द का सत्य नहीं है। तो फिर 'सत्य' क्या है? तब उन्होंने व्याख्या की – जो समस्त प्राणियों का परम हित है, वही सत्य है –

यद् भूतहितम् अत्यन्तम्।

तो भगवान राम का वह वाक्य मानो एक मूल सूत्र था। यदि आप हित में बँटवारा करेंगे कि किसका हित हो और किसका न हो, तब तो वह श्रीराम के दर्शन के विरुद्ध होगा। इसीलिए भगवान श्रीराम यदि विश्वामित्र के कहने से ताड़का पर प्रहार करते हैं, तो ऐसा लगता है कि इस प्रकार उन्होंने सामाजिक मर्यादा का पालन करते हुए ताड़का को दण्ड दिया। परन्तु जब आप उस पूरी पंक्ति को पढ़ते हैं, तो उसमें यही तो लिखा हुआ है – भगवान ने ताड़का को अपना पद दिया –

एकहि बान प्रान हरि लीन्हा।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा।। १/२०८/६

इस सूत्र को आप ध्यान में रखें। इस यात्रा में दो नारी-पात्र सामने आती हैं – अहल्या और ताड़का। भगवान ने ताड़का पर बाण का प्रहार किया और अहल्या को अपना चरण स्पर्श करके चैतन्य किया। इससे ऐसा लगा कि यह तो ईश्वर का पक्षपात हुआ। परन्तु आप शब्द की गहराई पर दृष्टि डालें। गोस्वामीजी कहते हैं कि पद तो उन्होंने दोनों को ही दिया। उन्होंने ताड़का को ही नहीं, अहल्या को भी पद दिया।

इसका तात्त्विक तात्पर्य यह है कि उन्होंने ताड़का का वध किया। समाज में आवश्यकता होने पर दण्ड भी दिया जाता है, समाज में आावश्यकता पड़ने पर युद्ध भी किया जाता है, परन्तु भगवान जब ताड़का पर प्रहार करते हैं, तो ताड़का के प्रति द्वेष की वृत्ति न रखकर, उसे अपने आप में विलीन करके भगवान मानो उसे भी अनुभव कराना चाहते हैं कि तुम मुझसे रंच मात्र भी भिन्न नहीं हो। इसी प्रकार बाद में भगवान जब बाण से रावण पर प्रहार करते हैं, तो इसका अभिप्राय यह है कि नाट्य-मंच पर यदि किसी व्यक्ति ने अनुचित आचरण किया है, तो वह दण्ड का पात्र है। युद्ध करने की भी आवश्यकता पड़ी, तो किया, परन्तु कहीं रंच मात्र भी द्वेष नहीं है। अन्त में जब रावण का सिर कटा, तो ब्रह्मा तथा देवतागण आश्चर्यचकित हो गये, उन लोगों ने देखा कि रावण से एक दिव्य तेज निकला और भगवान में समा गया –

तासु तेज प्रभु बदन समाना।
सुर मुनि सबहुँ अचंभव माना।। ६/७०/८

इसका तात्पर्य यह है कि भगवान रावण को नरक में नहीं भेजते। भेजना तो नरक में ही चाहिए था। कर्म-सिद्धान्त तो कहता है कि व्यक्ति अपने कर्मों का फल भोगता है। तो जिसने इतने व्यक्तियों को खा लिया, कष्ट दिया, उसे केवल दण्ड देने मात्र से ही सारे पापों से मुक्ति कैसे मिलेगी? भगवान ने उसे मारा और इसके बाद उसे नरक में भेज देना चाहिए। शास्त्रों में बताया है कि ऐसा पाप करे, तो इतने हजार या लाख वर्ष नरक में रहना पड़ता है। परन्तु भगवान ने रावण को जब अपने में लीन कर लिया, तो उनका तात्पर्य मानो यह था – रावण, एक दिन तुमने मन्दोदरी के समक्ष जो दावा किया था कि मैं राम हूँ, वह सही तो था, परन्तु सच आज हुआ है। पहले वह सच नहीं था। जब तुम शरीर के घेरे में घिरे हुए कहते हो कि मैं राम हूँ, तो वह तुम्हारा अभिमान होता है; और जब तुम मुझमें समा जाते हो, तब जो कुछ है, वह सब तो मुझमें ही है। जब भगवान राम हनुमानजी को अनन्य भक्ति का उपदेश

देते हैं तो कहते हैं – मेरा अनन्य भक्त वह है, जो यह अनुभव करे कि यह सारा ब्रह्माण्ड भगवान का ही स्वरूप है और सबकी सेवा करे –

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ।। ४/३

परन्तु प्रभु की सावधानी देखिए, उन्होंने एक छोटा-सा वाक्य जोड़ दिया। वे इतना मात्र कह सकते थे कि सारे ब्रह्माण्ड को मेरा ही रूप मानो, परन्तु साथ में एक शर्त भी जोड़ दिया। वह शर्त तर्कसंगत तो नहीं, पर अति आवश्यक है। बोले – हनुमान, तुम मेरे अनन्य भक्त हो, तो सारे संसार को मेरा रूप मानना, परन्तु स्वयं अपने को नहीं। समझना – मैं सेवक हूँ और संसार प्रभु का रूप है। अब यह तो किसी भी तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता। सारे ब्रह्माण्ड में क्या एक हनुमानजी ही ऐसे रह गये, जो ईश्वर के रूप नहीं हैं, पर भगवान की सावधानी यह थी कि जो लोग यह मान लेते हैं कि सारा ब्रह्माण्ड ईश्वर का रूप है, वे स्वयं अपने को तो मान ही लेते हैं, चाहे दूसरे को माने या न माने। वे चाहते थे कि यह भूल न होने पाये, यह अभिमान का चक्कर न चले कि यह कहते-कहते हम स्वयं तो ब्रह्म बन बैठे और सारे संसार को तुच्छ और हीन कहकर उसे हीन दृष्टि से देखें। बोले – भाई, अपने को बचाए ही रखो। जब तुम स्वयं अपने को दास के रूप में स्वीकार करोगे और निरभिमानता के इस कवच से स्वयं को बचाये रखोगे, तो अभिमान की सम्भावना नहीं रहेगी।

तत्त्वत: धर्म का जो श्रीगणेश होगा, वह तो यहीं से होगा कि यह समस्त संसार ईश्वर का ही रूप है और ईश्वर का अंश ही विविध रूपों में व्यक्त हो रहा है। परन्तु अच्छे-बुरे की जो विविधता दिखाई देती है, वस्तुत: इस विविधता का समाधान क्या है?

रावण तो एक विपरीत पक्षवाला अन्धकारमय अवतार के रूप में नीचे गिरने वाला है और परशुरामजी के रूप में जो अवतार है, वे तो दिव्य तेजोमय हैं, प्रकाश के रूप में हैं। रावण अन्धकार के रूप में है और भगवान राम प्रकाश के रूप में हैं। अब प्रश्न उठता है कि यदि प्रकाश ईश्वर का पक्ष है, तो अन्धकार कौन है? अब तत्त्वत: तो यही सत्य है कि चीनी की चाहे तलवार बनाइए या मिठाई बनाइए, ऐसा तो नहीं कि चीनी की मिठाई मीठी होगी और चीनी की तलवार को मुँह में डालेंगे, तो वह तलवार की तरह काट देगी? तथापि यह तत्त्वत: सत्य होते हुए भी जो भिन्नता प्रतीत हो रही है, उसमें जटिल स्थिति क्या है? सजगता अपेक्षित है। भगवान परशुराम मानो अपने अंश के रूप में एक पक्ष का समाधान देते हैं और जब पूर्णावतार भगवान राम को अपना शस्त्र अर्पित कर देते हैं, तो उसका एक सांकेतिक अर्थ है। इसको न आप 'तू-तू, मैं-मैं' के रूप में देखें, न जय-पराजय के रूप में देखें, न ब्राह्मण-क्षत्रिय विद्वेष के रूप में देखें। इस सारे तत्त्व को आप इस दृष्टि से विचार करके देखें, जो गोस्वामीजी बताना चाहते हैं। वर्ण की दृष्टि तो है ही, आश्रम की दृष्टि से भी एक राम ब्रह्मचारी हैं, ब्रह्मचर्य आश्रम में है और दूसरे राम गृहस्थ आश्रम में है। तो कहीं वर्ण का संघर्ष चलता है, तो कहीं आश्रम का।

मुझे स्मरण आता है, बम्बई में एक बड़ा भारी सम्मेलन था। उसमें आसन लगे हुए थे और स्वाभाविक रूप से वे आसन आगे पीछे लगे हुए थे। आगे वाले आसनों में जो महात्मा बैठे हुए थे, मुझे भी वहीं बैठा दिया गया, लोगों को वही उचित लगा होगा। उसी समय एक बड़े सन्त आए, हमारे लिए वे बड़े वन्दनीय थे। मैंने देखा, तो मैं उठकर पीछे जाने लगा, ताकि वे वहीं बैठ जायँ। मेरे पीछे एक गृहस्थ विद्वान बैठे हुए थे। बोले – आज तो आपने सफेद कपड़े की नाक कटवा दी। आपको क्या जरूरत थी उनको देखकर खड़े होने की, पीछे चले आने की। यह भी कोई बात हुई? मैंने कहा – मेरी इतनी लम्बी नाक नहीं है कि जो वन्दनीय हैं, उनको देखकर खड़ा न होऊँ। परन्तु आपको इसमें भी लगता है कि यह सफेद और गेरुवे की लड़ाई है – गृहस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम का संघर्ष है !

ऐसे अवसर यही प्रगट करते हैं कि हमारी सोचने की पद्धति कितनी विकृत हो गई है ! तो फिर ब्रह्मचारी श्रेष्ठ है या गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है, या फिर वानप्रस्थ श्रेष्ठ है या संन्यासी श्रेष्ठ है? यदि ये चारों अपनी श्रेष्ठता के लिए संघर्ष करने लगें, तो समाज की क्या दशा होगी? जैसाकि आज विविध रूपों में दिखाई देता है।

तो इस संवाद का आनन्द क्या है? यदि यह जय-पराजय का संवाद होता, तो यह उन परशुरामजी के लिये कितना कटु अनुभव होता, जो इक्कीस बार क्षत्रिय जाति का संहार कर चुके हों? भौतिक दृष्टि से देखें, तो वे अत्यन्त छोटी आयु के क्षत्रिय कुमार के सामने हार गये। परन्तु गोस्वामीजी ने ऐसा नहीं लिखा है। इसका उन्होंने

कितना मधुर समापन किया है !

इस प्रसंग को आदि से अन्त तक उस दर्शन के सन्दर्भ में देखिए। इसका आदि देखिए और अन्त देखिए, परन्तु मध्य में जो हो गया, उसी को सब कुछ मत मान लीजिए। आदि क्या है? परशुरामजी आए। पहले जाकर विश्वामित्रजी से गले मिले। उन्होंने श्रीराम-लक्ष्मण को बुलाया और कहा – प्रणाम करो। ऐसा नहीं कि भगवान राम कहें – वाह, मैं तो पूर्ण हूँ और ये अंश मात्र हैं, ऐसी कोई बात नहीं हुई। गोस्वामीजी ने लिखा – फिर विश्वामित्रजी ने दोनों भाइयों को उनके चरणों में प्रणाम कराया और बोले – ये राम और लक्ष्मण राजा दशरथ के पुत्र हैं। उन्हें देखकर परशुरामजी को बड़ा आनन्द आया – अरे, ऐसी जोड़ी तो पहले कभी देखने को नहीं मिली ! अद्‌भुत हैं ये दोनों ! खूब आशीर्वाद दिया –

विश्वामित्र मिले पुनि आई ।
पद सरोज मेले दोउ भाई ।।
रामु लखनु दसरथ के ढोटा ।
दीन्हि असीस देखि भल जोटा ।। १/२६८/६-७

अब यह प्रणाम और आशीर्वाद ! श्रीराम के नमन पर आप विचार कीजिए। दण्डवत् करने में उनको आनन्द की अनुभूति हो रही है। और इतना ही नहीं, दोनों को देखने के बाद श्रीराम में दृष्टि अटक गई। गोस्वामीजी कहते हैं – कामदेव के भी मद को छुड़ाने वाले श्रीराम के अपार रूप को देखकर उनके नेत्र स्तम्भित हो गये –

रामहि चितइ रहे थकि लोचन ।
रूप अपार मार मद मोचन ।। १/२६८/८

श्रीराम के रूप को देखकर ऐसा दिव्य आनन्द आया कि देखते ही रह गये। प्रारम्भ में ही ऐसा लगा कि ये दोनों कोई अद्‌भुत हैं, अद्वितीय व्यक्ति हैं। अन्त में जब जाने लगे, तब भी जाते हुए परशुरामजी इतने प्रसन्न हैं कि उनके शरीर में रोमांच हो रहा है –

जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात ।
जोरि पानि बोले बचन हृदयँ न प्रेमु समात ।। १/२८४

इतनी भरी सभा में वे सचमुच अत्यन्त प्रसन्न हैं। कितनी निरभिमानता होगी, कितनी विनम्रता होगी। इस तरह से समूह में भी कोई व्यक्ति तो अपने को छोटा दिखाने की चेष्टा नहीं करता। अभी जिन परशुरामजी की सभी लोगों ने वन्दना की है, राजाओं ने नमन किया है, स्वयं श्रीराम ने नमन किया है, उसी सभा में वे श्रीराम की स्तुति करें? और स्तुति ही नहीं, जाते-जाते जब यह कहकर जाएँ – मैंने अनजाने में आपको बहुत से अनुचित वचन कहे। धन्य हैं आप दोनों भाई, आप तो क्षमा के मन्दिर हैं, मुझे क्षमा कीजिए –

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता ।
छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ।। १/२८५/६

ध्यान रहे, यदि यह विजय और पराजय का प्रसंग होता, तो हारा हुआ व्यक्ति कैसे लौटता है, इसकी कल्पना कीजिए? इस प्रसंग के आरम्भ में भी आनन्द है और अन्त में भी; बीच में आपको जो टकराहट दिखाई दे रही है, गोस्वामीजी ने उसकी दार्शनिक व्याख्या की है। परशुरामजी ने जब श्रीराम को देखा, तो देखते ही रह गये। लेकिन सहसा उनकी दृष्टि श्रीराम से हट गई। तब उन्हें क्या दिखाई देने लगा? बोले – भूमि पर जो खण्डित धनुष पड़ा था, उसी पर दृष्टि चली गई –

देखे चापखंड महि डारे ।। १/२७०/२

बस ! क्रोध इतना आया कि वे श्रीराम को भूलकर क्रोध से काँपते हुए बोले – मूर्ख जनक, यह भीड़ तूने क्यों एकत्र की है? यह धनुष किसने तोड़ा? –

बहुरि बिलोकि बिदेह सन
कहहु काह अति भीर ।
पूँछत जानि अजान जिमि
ब्यापेउ कोपु सरीर ।। १/२६९

क्रोध से भर गये और बहुत बड़ा सूत्र। गोस्वामीजी के शब्द का चुनाव तो देखिए ! क्या? राम कौन है? गोस्वामीजी ने शब्द लिखा – अखण्ड ज्ञान-स्वरूप –

ग्यान अखंड एक सीताबर ।। ७/७८/४

ब्रह्म अखण्ड है। राम अखण्ड हैं। सूत्र यही है कि जब तक अखण्ड को देखते रहे, तब तक आनन्द-ही-आनन्द था। परन्तु ज्योंही अखण्ड से हटकर खण्ड को देखने लगे, त्योंही क्रोध आ गया। यही मूल सूत्र है। अखण्ड को देखिए तो आनन्द-ही-आनन्द है, पर हम लोग तो खण्ड-खण्ड को ही देखते हैं। जब खण्ड देखेंगे, तो द्वैत अवश्य आएगा, क्रोध अवश्य आएगा, संघर्ष अवश्य होगा। इन दोनों अवतारों ने अपनी लीला के द्वारा अखण्ड-खण्ड प्रगट किया और समाज के समक्ष वर्ण-धर्म का आदर्श स्वरूप प्रस्तुत किया। **(क्रमशः)**

साधना का अंग – नि:स्वार्थ सेवा

स्वामी ज्ञानमूर्त्यानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर

सन् १८८४ ई. की घटना है। दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण देव भक्तों से घिरे बैठे हैं। नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) भी वहाँ उपस्थित हैं। विविध वार्तालाप तथा बीच-बीच में सरल हास-परिहास भी हो रहा है। प्रसंगवश वैष्णव धर्म की बात उठी। उस मत का सार सब लोगों को संक्षेप में समझाकर श्रीरामकृष्ण देव ने कहा, "इस मत में तीन विषयों का पालन करने के लिए कहा है – नाम में रुचि, जीव के प्रति दया और वैष्णवपूजन। जो नाम है, वही ईश्वर है – नाम और नामी को अभिन्न जानकर निरन्तर अनुराग के साथ नाम लेना चाहिए। भक्त और भगवान्, कृष्ण और वैष्णव को अभिन्न समझकर साधु-भक्तों की पूजा और वन्दना करनी चाहिए और कृष्ण का ही यह जगत्-संसार है, ऐसी धारणा हृदय में रखकर सब जीवों पर दया...।" 'सब जीवों पर दया' कहते ही श्रीरामकृष्ण देव समाधिस्थ हो गए। कुछ क्षण बाद अर्धबाह्यदशा में कहने लगे, "जीव पर दया – जीव पर दया? धत् रे, कीटाणु-कीट होकर तू जीव पर दया करेगा? दया करनेवाला तू कौन है? नहीं, नहीं, जीव पर दया नहीं – शिवज्ञान से जीव की सेवा।"

भावाविष्ट श्रीरामकृष्ण देव की बात का गूढ़ मर्म कोई समझ न सका। स्वामी विवेकानन्द उस दिन कमरे से बाहर आकर कहने लगे, "आज ठाकुर की बात से कैसा अद्भुत प्रकाश प्राप्त हुआ ! जिस वेदान्त-ज्ञान को लोग शुष्क, कठोर और ममता-रहित समझते हैं, उसे भक्ति के साथ सम्मिलित करके कैसे सहज, सरस और मधुर प्रकाश का उन्होंने मार्ग दिखा दिया ! अद्वैतज्ञान लाभ करने के लिए संसार और समाज त्यागकर वन में जाना होगा और भक्ति-प्रेम आदि कोमल भावों को हृदय से उखाड़ फेंककर सदैव के लिए चित्त को नि:संग रखना होगा, ऐसी बात ही तो अब तक सुनता आया हूँ।... किन्तु आज ठाकुर ने भावावेश में जैसा बताया, उससे ज्ञात हुआ कि वन के वेदान्त को घर में लाया जा सकता है, संसार के सभी कार्यों में उसका प्रयोग किया जा सकता है। मनुष्य जो काम करते हैं करें, उसमें हानि नहीं, केवल हृदय से यह बात सबसे पहले समझ लेनी चाहिए कि ईश्वर ही जीव और जगत के रूप में अपने सामने प्रकट होकर विराजमान हैं। जीवन में प्रतिक्षण वह जिनके सम्पर्क में आता हैं, जिन्हें प्रेम करता है, जिन पर श्रद्धा, सम्मान या दया करता हैं, वे सभी उन्हीं के अंश हैं, वे स्वयं ही हैं। संसार के सभी व्यक्तियों को यदि वह शिवरूप समझ सके, तो अपने को बड़ा समझकर उनके प्रति द्वेष, क्रोध, दम्भ या दया करने का उसे अवसर कहाँ है? इस तरह सभी को शिव समझकर जीवों की सेवा करने से चित्त शुद्ध होकर थोड़े समय में अपने को चिदानन्दमय ईश्वर का अंश और शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव समझ सकेगा।"

स्वामी विवेकानन्द आगे कहते हैं, "भगवान् ने यदि अवसर दिया तो आज जो सुना, इस अद्भुत सत्य का संसार में सर्वत्र प्रचार करूँगा – पण्डित-मूर्ख, धनी-निर्धन, ब्राह्मण-चाण्डाल, सभी को सुनाकर मुग्ध करूँगा।" सचमुच में स्वामीजी ने इस अद्भुत सत्य का संसार में न केवल प्रचार किया, अपितु अपने आचरण द्वारा इसका अक्षरश: पालन किया। इसी दैवी कार्य के लिए उनका इस मर्त्य-लोक में आना हुआ था। जनमानस में सर्वप्रथम स्वामीजी द्वारा प्रचलित सेवाकार्य का प्रारम्भ स्वामी अखण्डानन्द जी ने किया था।

स्वामीजी अमेरिका क्यों गए, इस प्रसंग में एक मर्मस्पर्शी घटना है। एकबार आबुरोड़ स्टेशन पर स्वामी अखण्डानन्द जी की स्वामी ब्रह्मानन्द और स्वामी तुरीयानन्दजी के साथ भेंट हो गई। कुशल आदि पूछने के बाद स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने कहा, "स्वामीजी अमेरिका क्यों गये हैं, जानते हो? अखण्डानन्दजी ने कहा, 'नहीं'। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने बताया, "पश्चिम भारत में भ्रमण करते समय सामान्य लोगों का दु:ख दारिद्र्य तथा बड़े लोगों का अत्याचार देखकर स्वामीजी सर्वदा रोया करते और कहते, 'देखो, भाई इस देश में दु:ख दारिद्र्य का साम्राज्य है। उनके बीच अभी धर्म प्रचार करने का समय नहीं है। यदि कभी इस देश की दुर्दशा दूर कर सकूँ, तभी धर्म की बातें सुनाऊँगा। इसलिए कुबेरों के देश जा रहा हूँ– देखो शायद कोई उपाय हो जाय।' "

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद स्वामी अखण्डानन्द जी ने अपना अधिक समय परिव्राजक जीवन में बिताया। अपनी पराधीन मातृभूमि में परिव्रजन करते-करते उन्होंने अपने निर्धन देशवासियों की दयनीय अवस्था देखी। विभिन्न गाँवों का भ्रमण करते हुए स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज ने अपनी आँखों से वहाँ धनी सरदारों तथा निर्धन कृषकों का भेद देखा। निर्धन प्रजा की चरम दुर्दशा तथा उनकी पशुवत् जीवन यात्रा देखकर उन्हें अत्यन्त पीड़ा हुई। इन अध:पतित लोगों का दु:ख दूर कर उनकी सर्वांगीण उन्नति के प्रयास को

ही अपने मानव जीवन का कर्तव्य मानकर वे इसे पूर्ण करने में प्रवृत हुए। धनिकों के द्वारा निर्धन प्रजा का अर्थशोषण, पीड़ित प्रजा के अन्न-वस्त्र का अभाव तथा उनके जर्जर निवास आदि को देखकर वे दुखी हुए। वे उनके लिए कुछ करना चाहते थे, पर मन में एक द्वन्द्व था। क्या एक संन्यासी के लिए दीन-दरिद्रों की सेवा करना, अनपढ़ के लिए शिक्षा आदि की व्यवस्था जैसे सेवाकार्य करना उचित होगा? नवयुग के संन्यासी आज अपनी मुक्ति तक की कामना को त्यागकर लोक-कल्याण के पथ पर यात्रा करने के लिए प्रस्तुत थे। उन्होंने इस आशय का एक पत्र स्वामीजी को लिखा। स्वामीजी का उत्तर पाकर वे परम आनन्दित हुए। वे लिखते हैं,''काम करना होगा।... गरीब और नीच जातियों के घर-घर जाओ और उन्हें धर्म का उपदेश दो। उन्हें भूगोल तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों की मौखिक शिक्षा भी दो... बीच-बीच में दूसरे गाँव जाकर धर्मोपदेश करो तथा जीवन यापन की शिक्षा दो।... यही कर्म करो, तुम्हारी चित्तशुद्धि हो जाएगी।... गेरुआ वस्त्र भोग के लिए नहीं है, यह महाकर्म का ध्वज है – तन, मन और वाणी से अपने को जगद्धिताय अर्पित कर देना होगा। तुमने पढ़ा है – 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' परन्तु मैं कहता हूँ – 'दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव', निर्धन, निरक्षर, अज्ञानी तथा दखी, ये ही तुम्हारे देवता हों और इन्हीं की सेवा को परमधर्म समझना।' पत्र पाकर वे उत्साह के साथ सेवाकार्य में लग गये।

प्रथम तो उन्होंने खेतड़ी (राजस्थान) के राज्य-सरकार द्वारा परिचालित एंट्रेंस स्कूल की उन्नति का प्रयास किया। अखण्डानन्दजी महाराज ने खेतड़ी नगर में घर-घर जाकर लोगों को शिक्षा की उपयोगिता समझाई और लगभग दो सौ छात्र जुटा लिये। इसके बाद खेतड़ी में लगभग पाँच सौ घर 'गोला' या दास हैं । दास-दासियों से उत्पन्न इन गोला लोगों का कार्य था – अधिकारियों, दरबारियों तथा अतिथियों की सेवा करना – ये लोग पूर्णत: अशिक्षित थे। स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज ने एक सुअवसर देखकर इन बालकों की शिक्षा के लिए राजा के पास प्रस्ताव रखा। राजा इस प्रस्ताव से सहमत हुए और सभी बच्चों को स्कूल जाने का आदेश दिया।

राजा के नेतृत्व में खेतड़ी में एक संस्कृत पाठशाला चल रही थी। वहाँ २०-२५ छात्र व्याख्या न पढ़कर केवल हस्तपाठ तथा स्वरपाठ ही सीखा करते थे। इसके साथ व्याकरण, कोष, काव्य तथा ज्योतिष भी पढ़ाने की व्यवस्था थी। उन्होंने राजा को अर्थ-सहित वेद-वेदांग पढ़ाए जाने का अनुरोध किया। धीरे-धीरे पाठशाला को आदर्श वैदिक विद्यालय में परिणत कर दिया गया। एक दातव्य भण्डार खोलकर उन्होंने छात्रों के पुस्तकों का अभाव भी दूर किया।

स्वामी विवेकानन्द भी अपने पत्रों के माध्यम से गुरुभाइयों को शिव भाव से जीव सेवा करने के लिए प्रेरणा देते। स्वामीजी लिखते हैं, ''सेवा-धर्म का ठीक-ठीक पालन करने से भव-बन्धन अति सहजता से कट जाता है, 'मुक्तिकरफलायते'। तपस्या के फलस्वरूप शक्ति प्राप्त होती है और स्वार्थ बुद्धि त्यागकर दूसरों के लिए कर्म करना ही तपस्या है। कर्मयोगी कर्म को तपस्या मानता है। ऐसी तपस्या करते-करते साधक के मन में परहित की इच्छा से कर्म किए जाते हैं – इसका फल चित्तशुद्धि और अन्तत: ईश्वर-साक्षात्कार होता है।'

सेवा इस तरह करनी चाहिए, जैसे हम भगवान की ही सेवा कर रहे हों। ईश्वर हमें एक माध्यम बनाकर हमसे कर्म करवा रहे हैं, यदि इस भावना से सेवा की जाए, तो अहंभाव और फल की इच्छा से रहित होकर साधक का अन्त:करण शुद्ध होता है। इसके अभाव में साधक की आन्तरिक प्रगति नहीं होती और सतत बाह्य-विषयों में रहकर वह नाम-यश की वासना में फँस जाता है। इसलिए सेवाकार्य के साथ-साथ जप-ध्यान, उपासना, भजन इत्यादि का अभ्यास भी नित्य आवश्यक है। स्वभाव अथवा प्रारब्धवश जो भी करणीय कर्म सामने आते हैं, उन्हें ईश्वरार्पण बुद्धि से करने से भगवत् कृपा प्राप्त होती है और मुमुक्षु को नित्य-प्राप्त आत्मा की अपरोक्षानुभूति होती है। इसलिए स्वामी विवेकानन्द ने 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' का मन्त्र दिया है, जिससे साधक धीरे-धीरे निष्काम कर्म द्वारा अपना सर्वोच्च अभीष्ट प्राप्त कर सके।

स्वामी अखण्डानन्द जी ने स्वामीजी के इस उपदेश को अपने जीवन में चरितार्थ किया था। उनका मन नितान्त पवित्र था, वे चाहते तो हिमालय में रहकर अपना शेष जीवन भगवद् आराधना में बिता सकते थे। किन्तु उनका पूरा जीवन श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी के उपदेशों पर समर्पित था। परिव्राजक जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आए, जिससे उनके जीवन की दिशा परिवर्तित हो गई। जामनगर में झंडु भटजी के घर रहते समय एक दिन स्वामी अखण्डानन्दजी उनकी अलौकिक हृदयवत्ता का उदाहरण देखकर मुग्ध हो गये। वे लिखते हैं, ''ऐसा लगा कि भट्टजी का घर एक अस्पताल है। बुखार, खाँसी, दमा आदि रोगियों की उनके घर में भीड़

लगी रहती है। इन लोगों की औषधि तथा पथ्य की व्यवस्था भी उन्हीं के घर में होती थी।' महानुभाव भट जी की मानव सेवा के उदाहरण से अखण्डानन्दजी को विशेष प्रेरणा मिली। भट जी की आयु उस समय लगभग सत्तर वर्ष की थी।

किसी को कोई बीमारी हो, विशेषकर हैजा आदि होने का समाचार मिलने पर अखण्डानन्दजी महाराज जीवन संकट में डालकर उनकी सेवा करने जाते थे। एक दिन गंगास्नान के उपरान्त मठ लौटते समय उन्होंने कोलकाता के आलमबाजार के चौराहे पर देखा कि वहाँ एक वृद्धा अचेतन पड़ी है। अखण्डानन्दजी ने एक स्वच्छ वस्त्र की व्यवस्था करके उसे पहनाया और बैलगाड़ी में चढ़ाकर थाने में पहुँचा आये। थाने के लोगों द्वारा उसे अस्पताल भेज देने के बाद वे मठ लौट आए।

पश्चिम बंगाल के मुर्शिदाबाद के पथ पर जाते समय परिव्राजक अखण्डानन्द जी को अत्यन्त दुर्बल चरवाहे बालकों के मुख से ही उस अंचल में फैले अकाल की बात ज्ञात हुई। अकाल पीड़ित बच्चों की चरम दुर्दशा देखकर अखण्डानन्दजी विचलित हो गये। उनके पास दो-चार पैसे थे, उसी में से एक-दो बाँटते हुए रास्ते पर चल पड़े। आगे चलकर रास्ते में उन्हें एक दुबली पतली मुसलमान बालिका दिखी। अपने मिट्टी का घड़ा टूट जाने के कारण वह बहुत रो रही थी। अकाल के कारण खाने को नहीं मिलता और घर में जो एक पानी का एक घड़ा था वह भी टूट गया। पानी ले जाने के लिए दूसरा बर्तन नहीं था। स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज ने उस लड़की को बाजार से पानी का एक घड़ा तथा दो पैसे का मीठा चिउड़ा खरीदकर दिया।

अखण्डानन्दजी के सामने और भी लड़के जमा हो गये, उनको भी थोड़ा मुरमुरा-चिउड़ा दिया, उसके बाद और पन्द्रह-सोलह महिला-बालक जमा हो गये। सबके चेहरे निस्तेज, दीन-दरिद्र, पेट में अन्न नहीं, यह स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहा था। शरीर पर कपड़े नहीं, पेट अन्दर दबा हुआ, ऐसे सब लोग अखण्डानन्दजी के सामने 'कुछ तो दीजिए' ,ऐसे भाव में खड़े हो गए। दरिद्रता का यह भयानक दृश्य देखकर अखण्डानन्दजी का हृदय द्रवित होने लगा। सब जगह अत्यन्त दैन्यावस्था मण्डरा रही थी। अपने इन बान्धवों की मदद करनी चाहिए, ऐसा उन्होंने मन में निश्चय कर लिया। इस स्थान पर एक सहायता केन्द्र हो, इसके लिए वे प्रयास करने लगे। अकेले अकिंचन संन्यासी क्या कर सकते थे? अपनी क्षमता से बाहर का यह काम है, इस आशय का पत्र उन्होंने स्वामी रामकृष्णानन्द जी (शशी महाराज) को मद्रास में लिखा। स्वामी विवेकानन्द को दार्जिलिंग में यह पत्र पढ़ने को मिला। उन्होंने तुरन्त अखण्डानन्दजी को पत्र लिखा, "तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। तुम काम शुरू करो।" स्वामीजी ने उन्हें डेढ़ सौ रूपये भेजे तथा स्वामी नित्यानन्द एवं ब्रह्मचारी सुरेन को भी अखण्डानन्दजी की सहायता के लिए भेजा। अकाल के समय स्वामी अखण्डानन्द जी अपना मन-प्राण देकर गरीबों की सेवा में लग गए।

अखण्डानन्द जी ने निश्चय कर लिया कि वे अपना शेष जीवन दरिद्र-नारायण की सेवा में अर्पण कर देंगे। अकाल की तीव्रता धीरे-धीरे कम हो गई, परन्तु ऐसे अनेक अनाथ बच्चे थे, जिनके माता-पिता अकाल में मृत्युमुखी हो गये थे। ऐसे बच्चे जिनका कोई भी सहारा नहीं था, उनके लिए एक अनाथ आश्रम आरम्भ करने के अनुरोध से उन्होंने स्वामी विवेकानन्दजी को एक पत्र लिखा। स्वामीजी ने प्रोत्साहन देते हुए पत्र का उत्तर दिया,"अनाथाश्रम के विषय में तुम्हारा मत अतीव उत्तम है। ..एक स्थायी केन्द्र बनाने के लिए प्राणपूर्वक प्रयास करना।" बहुत प्रयासों के बाद अन्ततः उन्हें सारगाछी ग्राम में जमीन मिली। वहाँ उन्होंने स्कूल आदि सहित अनाथाश्रम की स्थापना की, शेष जीवन लगभग वहीं व्यतीत किया। इस प्रकार अपने जीवन के सुदीर्घ ३५ वर्ष उन्होंने नर-नारायण की सेवा में अर्पित कर दिए।

भगवान श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में इस प्रकार एक प्रसंग आता हैं। जब वे काशी यात्रा के लिए जाते हैं, तब मार्ग में श्रीक्षेत्र बैद्यनाथ धाम गये थे और वहाँ के गरीबों की दुख-दैन्यवास्था देखकर उनका हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने अपने शिष्य मथुरानाथ विश्वास से कहा, "इन सब गरीबों को पेटभर भोजन, वस्त्र इत्यादि दान करके आगे यात्रा के लिए निकलेंगे।" इन निर्धन लोगों की दैन्यावस्था देखकर श्रीरामकृष्ण देव व्यथित हो गए। वे अचल शिव के दर्शन के लिए निकले थे, किन्तु मार्ग में उनके ही भिन्न रूप – सचल शिव को भूख से कातर होते देख उनकी सेवा में लग गए। शास्त्र का भी यही अनुमोदन है कि व्यक्ति स्थूल चिन्मयी मूर्ति की पूजा-वन्दना कर स्वयं में ब्रह्मभाव का विकास करे और उसी की अभिव्यक्ति विराट सच्चिदानन्द की सेवा करे।

श्रीमाँ सारदा का जीवन भी सेवा-भावना का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। व्यक्तिगत सुख-सुविधा का विचार उनके मन में लेशमात्र भी न था। अपने साधु एवं गृहस्थ शिष्यों को

उन्होंने नर-नारायण की सेवा में प्रेरित किया। जयरामवाटी में एक बार उन्होंने कहा था, ''सब समय जप-ध्यान कौन कर सकता है? मन को खाली रखने की अपेक्षा उसे सत्कार्य में लगाकर रखना अधिक अच्छा है, मन खाली रहने से ही सब गड़बड़ होती है। इसलिए नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) ने यह सब निष्काम सेवाकार्य शुरू किया है।'' श्रीमाँ सबकी नारायण भाव से सेवा करती थीं। सबको प्रेम, आशीर्वाद, शुभेच्छा देते हुए उन्होंने एक आदर्श जीवन यापन किया। उनकी दृष्टि में डाकू अमजद और स्वामी सारदानन्द समान थे। श्रीमाँ के उपदेश एवं उनके आदर्श जीवन को देखकर अनेक संन्यासी-गृहस्थ भक्तों में जो सेवाकार्य और साधना के बीच द्वन्द था, वह दूर हो गया। श्रीमाँ सेवादर्श की एक असाधारण शान्त-सौम्या मूर्ति थीं।

केवल दीन-दरिद्रों को दान आदि देकर उनकी सेवा करना पर्याप्त नहीं है, उनके अपने पैरों पर खड़े होने से ही सेवाकार्य सार्थक और सुन्दर हो सकता है। सेवा द्वारा सेव्य और सेवक दोनों ही आत्म-साक्षात्कार के पथ पर आगे बढ़े, तो सेवा सफल होती है। भगवान श्रीरामकृष्ण देव द्वारा उपदिष्ट 'शिव ज्ञान से जीव सेवा', यह उपनिषद मन्त्रों की ही पुनरावृत्ति है। ईशोपनिषद में 'ईशावास्यमिदं सर्वम्', तैत्तिरीयोपनिषद् में 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' तथा गीता में 'ईश्वर: सर्वभूतानाम्' – इत्यादि मन्त्र-श्लोक जीव और शिव के ऐक्य का प्रतिपादन करते हैं। सर्वभूतों में ब्रह्मभाव रखकर उनकी सेवा करना, यह साधना का एक अंग है। श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द ने शास्त्र-ग्रन्थों तक सीमित इस अद्वैत वेदान्त को दैनन्दिन व्यवहार में पालन करने का मार्ग दिखाया।

स्वामी विवेकानन्द के राष्ट्र प्रेम और ईश्वर प्रेम का उल्लेख करते हुए स्वामी अखण्डानन्द जी ने १९२६ में आयोजित रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के महा-सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए कहा था, 'स्वामीजी अपनी मातृभूमि की सेवा के लिए लाखों जीवन देने को तैयार थे, तुम लोग क्या एक जीवन भी न दे सकोगे? तुम्हारे पीछे एक दिव्य शक्ति विद्यमान है, इस दृढ़ विश्वास का आश्रय लेकर कर्म-समुद्र में स्वयं को डाल दो। परन्तु सदा सावधान रहना होगा कि हृदय-देवता के पवित्र आसन पर कहीं जघन्य अहंकार को न बैठा लेना। जिस क्षण 'मैं' आकर देवता के मन्दिर में प्रवेश करता है, उसी क्षण सारी अच्छाई अवरुद्ध हो जाती है।...दूसरों के लिए पथ का निर्माण करो, तभी मैं कह सकूँगा कि तुम लोगों ने स्वामीजी का भाव ग्रहण किया है।' OOO

सेवा कैसे करें?

स्वामी भास्करानन्द

स्वामी यतीश्वरानन्द जी रामकृष्ण संघ के सह-संघाध्यक्ष थे। एक बार कुछ युवा साधु-ब्रह्मचारी उनका सत्संग करने उनके पास आए। उन्होंने महाराज से प्रार्थना की कि वे उन्हें आध्यात्मिक जीवन हेतु कुछ मार्गदर्शन करें।

पूज्य महाराज जी ने कहा, 'अपनी छात्रावस्था की एक घटना सुनाता हूँ। एक दिन सुबह जब मैं घर से विद्यालय की ओर जा रहा था, मैंने देखा कि एक जंगली कुत्ता सड़क के किनारे बुरी अवस्था में है। उसके शरीर पर गहरा घाव हो गया था। उस समय हमारे घर में सल्फर रहता था और मैंने सोचा कि घाव के ऊपर यदि सल्फर लगाया जाए, तो कुत्ते को राहत मिल सकती है।

इसलिए मैं घर वापस गया और वहाँ से सल्फर लाकर कुत्ते के घाव के ऊपर लगाया। इसके बाद मैं विद्यालय गया। मन में बहुत आनन्द था कि एक कुत्ते की मदद करके मैंने बहुत बड़ा काम किया !!!

विद्यालय से जब लौटा तो देखा कि कुत्ते को जहाँ छोड़ गया था, वहीं पड़ा हुआ है। आश्चर्य की बात तो यह कि वह अब अधिक दुर्बल दिख रहा है और उसने आस-पास उल्टी करके स्थान को गन्दा कर दिया है।

तब मुझे समझ में आया कि वास्तव में कुत्ते की मदद करने के बजाय मैंने उसे हानि ही पहुँचाई। कुत्तों में अपने घाव को चाटने की एक सामान्य प्रवृत्ति रहती है। उस कुत्ते ने भी अपने घाव को चाटा और घाव के ऊपर सल्फर होने के कारण वह रासायनिक पदार्थ उसके पेट में चला गया।

इस अनुभव से मुझे यह बात समझ में आई कि केवल सेवा की भावना होने से ही किसी का कल्याण नहीं होता। सेवा किस तरह की जाए, इसका भी बोध होना चाहिए।

कर्मयोग की साधना में हम निष्काम कर्म तो करते हैं, किन्तु यह पर्याप्त नहीं है। निष्काम कर्म कैसे करें, इसका भी ज्ञान होना चाहिए।' OOO

(मूल अंग्रेजी से अनुवाद – ब्र. चिदात्मचैतन्य, रामकृष्ण मठ, नागपुर)

जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे उनकी सन्तानों की, विश्व के प्राणिमात्र की पहले सेवा करनी चाहिए।

– स्वामी विवेकानन्द

सारगाछी की स्मृतियाँ (३६)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और स्वामी अनुग्रहानन्द ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

१-८-१९६०

प्रेमेश महाराज – संन्यासी को अधिक क्या चाहिये, भक्ति और योग रहने से ही तो हो गया। ज्ञान तो है ही। वह 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या' को समझकर ही घर-द्वार सब कुछ त्याग कर आया है। जितने दिनों तक मन को केवल योग-युक्त नहीं कर सकेगा, उतने दिनों तक कर्म करेगा। एक व्यक्ति ऐसा भी होता है – लकड़ी जैसा काष्ठवत् बैठा हुआ है, किन्तु मन में कोई आन्तरिक संघर्ष या विकास नहीं है। 'राजयोग' पुस्तक को बार-बार पढ़ना भी अच्छा है। इसमें सिद्धियों की शक्ति के सम्बन्ध में बहुत बातें जानी जा सकती हैं। मैंने देखा है, हठयोग के द्वारा समाधि होती है। ऋषिकेश में एक व्यक्ति ४५ दिनों तक समाधिस्थ था। धर्म के नाम पर धोखा तो होता ही रहता है। स्वामीजी ने मोहम्मद के सम्बन्ध में राजयोग में कहा – Stumble upon realisation – मानो अचानक अनुभूति हुई । और देखा जाय, तो किसे हठात् अनुभूति नहीं हुई? जब ठाकुरजी ने 'माँ माँ' कहकर अनुभूति की, वह भी तो हठात् अनुभूति है ! लाटु महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द), गोपाल की माँ सभी तो वैसे ही हैं। तुम भक्ति-मार्ग में जाओ या ज्ञान-मार्ग में जाओ, यह राजयोग स्वयं आ जाएगा। तुम्हारी कुलकुण्डलिनी जगेगी ही। श्रीचैतन्यदेव के समय कितने योगियों ने जन्म लिया था। उनके सहचरों में तो सभी योगी हैं।

भोजन और शयन का समय ठीक मशीन के जैसा करना। प्रतिदिन नियमित एक समान आहार-विहार करना। 'रघुनाथ की रीति – जीवनचर्या, जैसे पत्थर की लकीर।'

प्रश्न – क्या मन को तैयार न करके ध्यान करने से क्षति होगी?

महाराज – ध्यान में बैठे हो, याद आया कि भगवान के तुलसी के पौधे को तो गाय चर जाएगी, उसे घेरना होगा। इसलिये भगवान के कार्य में जीवन समर्पण करने के लिये ध्यान से उठ गया। ध्यान में बैठे हो, उपर से पानी गिर रहा है, अकारण सोचने लगा मिट्टी के घर के बदले पक्का मकान बनाना होगा ! लोगों के घरों में जाकर चन्दा एकट्ठा करो, मिस्त्री को बुलाओ, क्योंकि भगवान भीग रहे हैं। उन्हें बचाओ ! बात समझ रहा है न?

३-८-१९६०

प्रश्न – हमलोगों में जो लोग सामाजिक सेवा करते हैं और अधिकांशत: ईश्वर को भूले रहते हैं, क्या उससे उन लोगों का विकास होगा? जो लोग सामाजिक सेवा न कर माला जपते हैं, जबकि ईश्वर में मन नहीं है, तो वे लोग किस स्तर के हैं?

महाराज – उससे उन लोगों का भी विकास होगा। उन्हें सम्मान और यश मिलेगा। जैसे प्रताप हाजरा को ईशान मुखर्जी ने लोटे का पानी उठाकर दिया था। उसके जप-तप का केवल इतना ही फल है।

किसी सज्जन ने श्रीचैतन्यदेव के बारे में थोड़ा व्यंग्य किया। तब महाराजजी ने कहा, ''काली और शिव कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। श्रीचैतन्यदेव साक्षात् पूर्ण ब्रह्म हैं, ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। सारा दिन तो कितने भावों में व्यतीत होता था ! पुस्तकों में प्रकाशित ही कितना हुआ है, शायद केवल दस भाग होंगे।''

४-८-१९६०

प्रश्न – अधिकांश लोग शिकायत करते हैं कि आश्रम के अध्यक्षगण नये ब्रह्मचारियों को अधिक कार्य दे देते हैं, उनके कल्याण की ओर उन लोगों का ध्यान ही नहीं जाता।

महाराज – केवल आश्रमाध्यक्ष ही कार्य-भार बढ़ा देते हैं, ऐसा नहीं है। वे लोग स्वयं भी कार्य चाहते हैं। किन्तु कार्य माँगने से ही देना होगा, ऐसा नहीं है। कम-से-कम संन्यासी का जीवन और उसका उद्देश्य क्या है, उसे बताना चाहिये। यह जानने के बाद वह कार्य में लगे। उससे वह

समझेगा कि उसे रजोगुण का नाश करना होगा, केवल लगाम को खींचना चाहेगा। किन्तु जो केवल लगाम को ढीला कर रहा है और आगे बढ़ रहा है, वह कहाँ जाकर किस गड्ढे में गिरेगा, उसका पता नहीं है !

ज्ञान के द्वारा निश्चय कर भक्ति-प्रवाह की सहायता से आगे बढ़ना होगा। ऐसा भी साधु होता है, कि प्रात: उठकर ठीक से ठाकुरजी की उपासना की, सबसे अच्छी तरह मधुर व्यवहार करते हुए मिला। उससे मन प्रशान्त रहता है, इससे सत्त्वगुण का उदय होता है। वह बहुत आराम से रहता है। लोग उसका सम्मान करते हैं। किन्तु वह त्यागी नहीं हो सकेगा। कई वर्षों तक धीरे-धीरे मन को एकाग्र करते-करते हो सकता है कि वैराग्य आयेगा।

बहुत तीव्र वैराग्य रहने से उपासना की आवश्यकता नहीं होती है। 'आत्मसंस्थं मन: कृत्वा' – मन को आत्म-समाहित करते ही ज्ञान हो जाता है। जैसे तोतापुरीजी महाराज थे। निश्चय ही तोतापुरीजी पूर्व-जन्मों में भी सिद्ध थे। इस बार ईश्वर के गुरु हुए। किन्तु नहीं जानकर चलने से मार्ग में गलती हो सकती है। जिस प्रकार तोतापुरीजी ने एक अवस्था का अतिक्रमण किया था। ठाकुरजी के पास बैठने पर उनकी वह अवस्था पकड़ में आयी।

हम लोगों का शरीर बहुत दुर्बल है। स्थिर होकर बहुत-देर नहीं बैठ सकते। फिर भी जो कुछ है, उसका सदुपयोग तो करना होगा।

प्रश्न – महाराज, मैं तो देख रहा हूँ कि आप बहुत आनन्द में हैं ! आपका शरीर अस्वस्थ है, किन्तु ज्यों ही तत्त्व की बातें कहना आरम्भ कर रहे हैं, त्योंही सब भूल कर प्रसंग-पर-प्रसंग चल ही रहा है। कई बार ऐसा भी हुआ है कि आपके साथ बातें हो रही हैं, अचानक देखता हूँ, आप कह रहे हैं – 'अरे एक डोज कोरामाईन (coramine) दो !'

महाराज – हाँ, उससे ही तो इतने कष्ट में भी जीवित हूँ ! मेरी दृढ़ धारणा है कि मैं यह शरीर, मन और बुद्धि नहीं हूँ। क्यों अधिक कष्ट पाऊँगा?

हमारे समय यह समाज एकदम विकृत हो गया था। साहेबों की केवल चापलूसी करना ही लक्ष्य हो गया था। एक हँसी की बात बताता हूँ – एक गरीब था। उसका कर देना बाकी था। साहेब ने उसे बुलवाया। साहेब ने पूछा, कर क्यों बाकी है? कहते हुए जूता निकाल कर बेचारे को पीटने लगा। मारते-मारते साहेब का जूता फट गया। वह गरीब आदमी छुटकारा पाकर गाँव में वापस आया। वह दाँत दिखाकर गर्व के साथ कहने लगा, "२५ रुपये का जूता फट गया, फिर भी एक पैसा भी नहीं लिया।"

प्रश्न – आप जब सबसे पहले मठ में आए थे, उस समय की कुछ बातें कहिए।

महाराज – 'अरूप-सायरे' भजन सुनकर पूजनीय राजा महाराज जी प्रसन्न हुए थे। उन्होंने कहा –"जो गाया, वह धन्य है, जो लिखा वह धन्य है और जो सुना वह धन्य है।" महापुरुष महाराज जी भी उपस्थित थे। खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्द जी) ने टहलते-टहलते सुनकर कहा, वाह ! बहुत अच्छा, बहुत अच्छा ! चलने दो, चलने दो।"

एकबार शुभ विजयादशमी के दिन महापुरुष महाराज जी ने मुझे एक भजन गाने के लिए कहा। मेरे 'मैं नहीं जानता हूँ' कहने पर वे चप्पल उतार कर स्वयं ही हाथ से ताली बजाकर गाने लगे। हम सभी लोग उन्हें चारों ओर से घेरकर गीत को दोहाराने लगे। एकदिन नीचे अतिथि-कक्ष में मैं 'गौरी आमार एली नाकि' भजन गा रहा था। ऊपर से महापुरुष महाराज सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। थोड़ी देर बाद वे कहीं जा रहे थे। मुझे रास्ते में देखकर उन्होंने कहा, बहुत अच्छा हुआ है। 'के रे ऐ पद्मपलाश' यह भजन भी महाराजजी को बहुत प्रिय था। स्वामी अभेदानन्द महाराज ने सुनकर मुझे भक्त के द्वारा सिलेट में संदेश भेजा कि वे मेरा भजन सुनकर बहुत खुश हुए हैं।

एकदिन गंगा के किनारे हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द जी) बैठे हुए थे। हम लोगों ने जाकर उन्हें प्रणाम किया। वे सिलेट गये थे और ताराकिशोर चौधुरी के घर में निवास किये थे। उन्होंने एक-दो बातें कहीं।

एक दिन शरत महाराज (स्वामी सारदानन्द जी) ने देखा, कई लोग मिलकर कोई एक भारी वस्तु को नहीं उठा पा रहे हैं। तभी मैंने जाकर 'हेंइउ-हो' कहा और सामूहिक शक्ति से वह सामान उठ गया। शरत महाराज जी ने कहा, "यह व्यक्ति कौन है?" **(क्रमश:)**
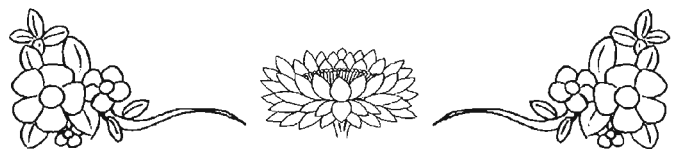
जीव-शिव की सेवा में वीर गंगाधर

ब्रह्मचारी पावनचैतन्य

रामकृष्ण मठ, बेलूड़ मठ, हावड़ा

परिचय – नदी अपने उद्‌गम से जब निकलती है, तो मार्ग में आने वाले सभी दुर्गम और पथरीले मार्गों को बड़े उत्साह से पार करते जाती है। सिंह वन में निर्भीक होकर विचरण करता है। वैसे ही गंगाधर महाराज, जिन्हें जगत स्वामी अखण्डानन्द के नाम से जानता है, परिव्राजक भ्रमण कर रहे थे। भारत और तिब्बत के अगम्य स्थानों में, गिरि कंदराओं में, मैदान और पहाड़ों में, जंगल और पगडंडियों में, एक सिंह की भाँति निर्भीक भ्रमण कर रहे थे। सत्य भी है, जिन्हें जीवन में महान कार्य करना होता है, उनके मार्ग सहज नहीं होते, उन्हें काँटों भरे रास्तों पर चलना ही पड़ता है। ईश्वर पर निर्भर हो वे स्थान-स्थान पर जा रहे थे। इसी बीच उनके जीवन में एक मोड़ आया, जब उन्होंने महाप्रभु के जन्म-स्थान नवद्वीप जाने का निर्णय लिया। वे अपने ही शब्दों में कहते हैं, 'अकाल का प्रथम कार्य'। यहाँ पर ठाकुर के निर्देश पर आना हुआ। १८९७ ई. में अकाल पड़ा था। कलकत्ता से मैं चंदन नगर आया। वहाँ से नवद्वीप जाने की इच्छा हुई। तदुपरान्त गंगातट पर भ्रमण करने की कामना जगी। इस प्रकार मैं बेलडांगा आया। वहाँ मैंने गंगा के किनारे देखा कि एक मुसलमान लड़की का घड़ा टूट गया है, इसलिए वह रो रही है। पास में जो कुछ पैसे थे, उसी से मैंने उसके लिये एक घड़ा और थोड़े चिउड़े खरीद दिये। उसके बाद ही दस-बारह अकाल-पीड़ित लोग मुझे घेरकर खड़े हो गये और कहने लगे, 'बाबा, खाने को दो'। तभी से मैं 'बाबा' हुआ। बाकी जो थोड़े पैसे बचे थे, उसी से चिउड़े खरीद उन्हें देकर मैं आगे बढ़ गया। संध्या को मैंने भावना स्टेशन के पास रात बिताई। सुबह उत्तर की ओर जाने की इच्छा थी, परन्तु महुला से अन्नपूर्णा-पूजा का निमंत्रण मिला था। उसके बाद ठाकुर की इच्छा से उनके कार्य से यहीं रुक गया।'

स्वामीजी की अनुप्रेरणा – स्वामीजी अपनी कविता 'सखा के प्रति' में अपना भाव प्रकट करते हैं –

ब्रह्म और परमाणु कीट तक, सब भूतों का है आधार,
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके चरणों में दो तन-मनवार।
बहु रुपों में खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ है ईश? व्यर्थ खोज यह, जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।

गंगाधर महाराज के इस सेवाकार्य में स्वामीजी की प्रेरणा ही कार्य कर रही थी। जब महाराज ने अकाल-पीड़ित मुर्शिदाबाद में राहत-कार्य अनवरत चलाना चाहा, तो उनके दो गुरुभ्राताओं ने अर्थाभाव के चलते उसे बंद कर वापस आ जाने को कहा। पर जब यह समाचार स्वामीजी को मिला, तब उन्होंने बाबा को प्रोत्साहित करते हुए अपने शक्ति संचार करनेवाले पत्रों से अनुप्राणित करते हुए लिखा –'शाबाश ! मेरे लाखों आलिंगन और आशीर्वाद स्वीकार करो। कर्म, कर्म, कर्म – मुझे और किसी चीज की परवाह नहीं है। मृत्युपर्यन्त कर्म, कर्म, कर्म ! जो दुर्बल हैं, उन्हें अपने आप को महान कार्यकर्ता बनाना है, महान नेता बनाना है, धन की चिन्ता न करो, वह आसमान से बरसेगा। जो लोग यह समझते हैं कि सहायता मिलने पर कार्य प्रारम्भ किया जाय, उनसे कोई कार्य नहीं हो सकता। जो यह समझते हैं कि कार्यक्षेत्र में उतरने पर अवश्य सहायता मिलेगी, वे ही कार्य सम्पन्न कर सकते हैं।'

अपने अल्मोड़ा से लिखे १५ जून, १८९७ के पत्र में वे लिखते हैं, 'हृदय और केवल हृदय ही विजय प्राप्त कर सकता है, मस्तिष्क नहीं। पुस्तकें और विद्या, योग, ध्यान और ज्ञान की तुलना में ये सब धूलि के समान हैं। प्रेम से अलौकिक शक्ति मिलती है, प्रेम से भक्ति उत्पन्न होती है, प्रेम ही ज्ञान देता है, और प्रेम ही मुक्ति की ओर ले जाता है। वस्तुत: यही उपासना है – मानव शरीर में स्थित ईश्वर की उपासना ! नेदं यदिदमुपासते – वह (अर्थात् ईश्वर से भिन्न वस्तु) नहीं, जिसकी लोग उपासना करते हैं।'

गीता में भगवान यह उद्‌घोषित करते हैं – **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति'**। संभवत: किसी ने इसे सेवा-कर्म के लिए उपयोग किया हो। आत्मबुद्धि से सबकी सेवा ही सेवा-धर्म है। इसमें दया का कहीं कोई स्थान न हो। ऐसी सेवा से चित्तशुद्धि होती है। स्वामीजी की विचार शक्ति भी बड़ी अद्‌भुत है। यह उनके मेरी हेल को लिखे १० अक्तूबर, १८९७ ई. के पत्र में प्रकट होता है, **स ईशः अनिर्वचनीयः प्रेमस्वरूपः –** 'ईश्वर अनिर्वचनीय

प्रेम-स्वरूप हैं। परन्तु **प्रकाश्यते क्वापि पात्रे** –'विशेष पात्रों में उसका प्रकाश होता है', यह कहने के बदले, **स प्रत्यक्ष एव सर्वेषां प्रेमरूप:** – 'वह सभी जीवों में प्रत्यक्ष प्रेमरूप में सतत अभिव्यक्त है', यह कहना चाहिए।''

सेवा को उपासना का ही स्वरूप देते हुए स्वामीजी कहा करते थे – पत्थर की प्रतिमा को पूजकर यदि भगवत्-दर्शन हो, तो जीवित मनुष्य में भगवान की पूजा उसी भाव से करने पर क्या ईश्वर-दर्शन नहीं होगा?

स्वामीजी ने 'शिवज्ञान से जीवसेवा' को साधना का अंग बनाया। स्वामी अखण्डानन्द जी स्वयं लिखते हैं – 'ठाकुर ने मुझे चैतन्यमय शिव दिखाया था। दक्षिणेश्वर में काली मंदिर में से जाकर, एक दिन दिखलाया – 'यह देख चैतन्यमय शिव !' सचमुच उस दिन मैंने जो देखा ! ठाकुर ने मेरे प्राणों में कैसे आनन्द ढाल दिया। फिर स्वामीजी ने दिखाया – जीव-जीव में शिव, जीवन्त शिव ! असहाय, दरिद्र, रुग्ण, भूखा, अन्नहीन, वस्त्रहीन – सब नारायण हैं। स्वामीजी की दृष्टि ही अलग थी। सच कहता हूँ, सबको खिलाने से ठाकुर खाते हैं, यह विश्वास मुझे है, यह मैंने देखा है ! ठाकुर के लिए शायद कोई कुछ लाया है, भोग लगाना होगा, कुछ देर है, मैंने सबको खिला दिया, मन में तनिक भी कुछ न लगा। हमारे ठाकुर लाखों मुँह से खाते हैं। ठाकुर को इस प्रकार खिलाकर ही मुझे अधिक आनन्द मिलता है।' (स्वामी अखण्डानन्द के सान्निध्य में, ५२)

स्वामी अखण्डानन्द जी के अनाथाश्रम के संचालन हेतु स्वामीजी ने कुछ निर्देश दिए थे, 'जितना वर्तमान परिस्थिति में सम्भव है, उतना ही करो। धीरे-धीरे तुम्हारे लिए मार्ग खुल जाएगा। अनाथालय अवश्य होना चाहिए, इसमें कोई सोच-विचार की बात नहीं है। ... सब धर्मों के लड़कों को लेना – हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या कुछ भी हों, परन्तु धीरे-धीरे आरम्भ करना – अर्थात् यह ध्यान रखना कि उनका खान-पान अलग हो, उन्हें केवल सार्वभौमिक धर्म का ही उपदेश देना।'

स्वामीजी ने गंगाधर महाराज के कार्यों को दैवकार्य का प्रमाण पत्र देते हुए लिखा, 'जो जगज्जननी के इस कार्य में सहायता करेगा, उस पर उनकी कृपा होगी और जो उसका विरोध करेगा, वह न केवल अकारण ही घोर शत्रुता करेगा, वरन् अपने भाग्य पर भी कुठाराघात करेगा'।

सेवाकार्य – परिव्राजक भ्रमण करनेवाले स्वामी अखण्डानन्द के जीवन में राजपुताना आकर भाव का परिवर्तन हुआ और उन्होंने स्वामीजी को लिखा – My nation first, my self second. I for others. – 'मेरा देश पहले, मैं बाद में। मैं दूसरों के लिए हूँ।' ये उनके शब्द मात्र नहीं थे, उन्होंने अपना जीवन ही इन शब्दों में गढ़ लिया था। अकाल पीड़ितों के कष्ट को देखकर उनका हृदय विगलित हुआ और कार्य के लिए सहायता भी मिली। चारुचन्द्र बसु जी ने आर्थिक सहायता दी और स्वामीजी ने दो सेवक भेजे। इस प्रकार १५ मई, १८९७ ई. को रामकृष्ण मिशन का प्रथम संघबद्ध अकाल-सेवाकार्य हुआ।

एक आध्यात्मिक पुरुष जहाँ भी जाय, वह अपनी आध्यात्मिकता की लहर उत्पन्न करता है। गंगाधर महाराज राहत-कार्यों के बीच लोगों के साथ कीर्तन करते थे और कुछ समय के लिये ही सही, जगत को भूलकर लोग ईश्वराभिमुखी हो आनन्द करते थे। लोगों के आग्रह पर वे इन दिनों बारी-बारी से एक-एक घर में भोजन करते थे।

वे एक-एक पैसे का हिसाब रखते और कहते कि यह जनता का पैसा है। जब वे बरहमपुर जाते, तो कुछ भी खर्च नहीं करते थे। वहाँ देवबाबू के घर कहते कि सिर्फ भात ही बनाना, तब खाऊँगा अन्य कुछ अधिक करने लगे, तो पुन: नहीं आऊँगा। आश्रम में भी उनका भोजन भात और आश्रम के बागान में हुई वनस्पतियाँ हुआ करती थीं। सेवा के कार्य ने उनके हृदय को कितना प्रभावित किया था, यह हम उस घटना से समझ सकते हैं, जब महुला में तीन माह होने के पश्चात् आर्थिक संकट को दूर करने के लिए स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने समाचार पत्र में कार्य विवरण देने को कहा। जिसे लिखते बैठने पर आँसुओं से वह कागज ही भीग गया था।

अनाथाश्रम – अकाल का ताण्डव तो समाप्त हुआ पर इसके प्रभाव से बहुत-से बालक अनाथ और निराश्रित हो गए। तब स्वामीजी की सहमति से अनाथाश्रम का कार्य प्रारम्भ हुआ। थागड़ा बरहमपुर मार्ग में एक बालक पर दृष्टि पड़ी, जो कुछ दिन पूर्व ही चेचक रोग से स्वस्थ हुआ था। अभी भी उसके शरीर पर दाग थे। नित्यगोपाल बाबू को दिखाकर बालक को बाबा महुला लाये। खोज करने पर पता चला कि ग्राम में उसके चाचा और दीदी रहते हैं, परन्तु चेचक से पीड़ित होने पर भी उसे दर-दर भटकना

पड़ रहा है। ऐसे समय में बालक का सेवाकेन्द्र में आना यही अनाथाश्रम की शुरुआत थी। तब बाबा ने ऐसा विचार किया, अहा ! इस कठिन समय में भी जगतपिता परमेश्वर की उस पर कृपा दृष्टि थी। हालाकि जातिच्युत होने के भय से उसके चाचा ने उसे बाध्य होकर वापस ले लिया।

एक साधारण व्यक्ति के लिए कार्य केवल एक कार्य ही बनकर रह जाता है, पर महापुरुष जिस कार्य को करते हैं, वे उसे आराधना का स्वरूप प्रदान करते हैं। अधिकांशत: लोग कर्म को बन्धन का कारण समझते हैं, पर उसे कैसे किया जाए कि वह मुक्ति का कारण हो जाए? यह इन पथप्रदर्शकों का ही कार्य है। उस समय बाबा की स्थिति ऐसी थी कि वह किसी भी अनाथ बालक को देख आश्रम ले आते और धूल झाड़कर नारायण-मन्त्र 'पुरुषसूक्तम्' का पाठ करते हुए उन्हें स्नान कराते थे। मित्रों और परिचितों को उन्होंने अनाथ बालकों को भेजने के लिए पत्र लिखा था तथा स्वयं भी जहाँ कहीं अनाथ बच्चों को देखते, उसे ले आते थे। उन दिनों कुछ लोग मॉरीशस द्वीप में श्रमिकों के कार्य के लिए बच्चों को पकड़ कर वहाँ भिजवाया करते थे। एक बार ग्रामवासी ऐसा समझकर बाबा की हत्या करने को उद्यत हो गए थे। ऐसे ही वे विभिन्न समय विभिन्न संकटों में पड़े थे। परन्तु इस सेवा-कार्य को उन्होंने निष्ठापूर्वक किया। वे कितने ही दिन स्वयं न खाकर भी बालकों को खिलाते थे। वे सबके खाने के बाद ही खाया करते थे।

पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा स्वर्ण हो जाता है, वैसे ही महात्माओं के सान्निध्य में आने से मूर्ख, दुर्जन आदि भी बदल जाते हैं। सेवा का ही एक उदाहरण चौबेजी का है। वे जब आश्रम आए थे, तब लोगों का अभाव था। चौबेजी ने कहा कि वे मात्र ब्राह्मण साधुओं की ही सेवा करेंगे। बाबा को अनाथ बालकों की सेवा करते देख उन्हें मना करते और कहते कि यह अशोभनीय है। परन्तु देखते-देखते चौबेजी में ऐसा परिवर्तन आया कि वे अनाथ बालकों की उल्टी, मल-मूत्र सब कुछ साफ करने लगे। इतना ही नहीं खाने के लिये वे बैठ ही रहे हैं कि कोई अतिथि आ जाय, तो वे उन्हें भोजन कराकर स्वयं भूखे रहकर ईश्वर का नाम लेकर आनन्द में रहते।

बाबा के इस अनाथाश्रम की एक अनूठी पद्धति थी। उन बालकों को पुस्तकीय ज्ञान की परिधि में मात्र न रखकर उन्हें व्यावहारिक ज्ञान, सेवा और आदर्श की शिक्षा भी दी जाती। इसी परिप्रेक्ष्य में यह उल्लेख करना अनिवार्य हो जाता है कि एक बार उस क्षेत्र में कॉलरा का प्रकोप होने पर आश्रम के बालकों की सेवा और रोग प्रतिरोधक व्यवस्थाओं द्वारा सैकड़ों ग्रामवासियों की जान बची थी।

उपदेश – ऐसे कर्मकुशल 'बाबा' के कुछ सेवा मूलक उपदेशों से हम स्वयं का जीवन गढ़ें और स्वयं को धन्य करें –

* स्वयं को दूसरों के लिए भुला दो। यदि कोई भूखा आए और उसके लिए भोजन न हो तो अपना उसे दे देना।

* मैं कभी मानव का त्याग कर हिमालय के उच्च पर्वतश्रेणियों के ऊपर भ्रमण करता था, किन्तु आज मैं मनुष्यों में साक्षात् भगवान ही देखता हूँ, और यह समझ सका हूँ कि मानव-समाज की सेवा उनकी सेवा है। भगवान स्वयं मेरे कानों में कह रहे हैं, अरे ! यही मनुष्य वैदिक मन्त्र-द्रष्टा और राम-कृष्णादि अवतार हैं, यह मनुष्य ही सब कुछ है !!!

२३ अप्रैल, १९३६ को पण्डित हाथीभाई शास्त्री अपने पत्र में स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज के सम्बन्ध में लिखते हैं – 'ब्रह्मभावापन्न स्वामी अखण्डानन्द जी रन्तिदेव द्वारा कथित एक श्लोक प्राय: ही दोहराया करते थे, जिसे उन्होंने झंडु भट्टजी से सुना था –

को नु स स्यादुपायोऽत्र येनाहं सर्वदेहिनाम्।
अन्त:प्रविश्य सततं भवेयम् दु:खभारभाक्।।

अर्थात् इस संसार में ऐसा कौन सा उपाय है, जिससे मैं सभी दुखी प्राणियों के शरीर में प्रवेश कर उनके दुख को सतत भोग सकूँ? स्वामी अखण्डानन्द जी इस श्लोक को आदर्श की तरह बारम्बार दोहराते थे। ○○○

संदर्भ – १. स्वामी अखण्डानन्द के सान्निध्य में २. स्मृति कथा, स्वामी अखण्डानन्द (बांग्ला) ३. विवेकानन्द साहित्य ६ व ७ खंड ४. शरणागति ओ सेवा (बांग्ला) ५. स्वामी अंखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द (बांग्ला) ६. स्वामी अखण्डानन्द के जेरूप देखियाछि, स्वामी चेतनानन्द (बांग्ला) ७. श्रीरामकृष्ण भक्तमालिका (बांग्ला).

साधना की अद्भुत प्रणाली – केनोपनिषद (१०)

स्वामी आत्मानन्द

(स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव थे। उनके द्वारा कलकत्ता में प्रदत्त इस प्रेरक व्याख्यान को स्वामी प्रपत्त्यानन्द द्वारा सम्पादित कर विवेक ज्योति के पाठकों हेतु प्रकाशित किया जा रहा है।)

किन्तु प्रश्न यह था कि यदि हम अपनी वासनाओं को ग्रंथियों से, कुंठाओं से बचने के लिए खुली छूट दे देते हैं, तो क्या समाज इसके लिए अनुमति प्रदान करेगा? पुलिस क्या हमारे पीछे नहीं पड़ेगी? शासन क्या हमें दंड नहीं देगा? हम क्या उच्छृंखल होकर अपने भीतर की भावनाओं को खुली छूट दे सकते हैं? इस प्रश्न पर सम्भवत: उनका ध्यान नहीं गया। वह भी एक कुंठा है। हम यदि अपने मन को कुंठा से बचाने के लिये मन की विकृतियों को खुली छूट दे दें, तो समाज कभी भी इसके लिये आज्ञा नहीं देगा। समाज प्रतिरोध करेगा, प्रतिक्रिया करेगा और वह प्रतिक्रिया क्या हमारे भीतर कुंठा का निर्माण नहीं करेगी? मैं जेल में बन्द कर दिया जाऊँगा। पुलिस मुझे पीटेगी, जनता मुझे मारेगी, तो क्या मेरे लिए यह कुंठा लाने की बात सिद्ध नहीं होगी? इस प्रश्न पर उन्होंने विचार नहीं किया। उनके जो प्रधान शिष्य थे युंग और एडलस, यहीं पर फ्रायड से अलग हो जाते हैं। फ्रायड ने इतना अच्छा काम किया, किन्तु दोष कहाँ पर रहा? दोष यहाँ पर रह गया। उन्होंने मन को समझने की चेष्टा नहीं की। उन्होंने मन के बाहरी रूप को तो देखा, पर यह समझने की चेष्टा नहीं की कि मन जो चेतन प्रतीत होता है, यह चेतनता मन की स्वयं की है या उधार ली हई है या इसके पीछे कोई अलग तत्त्व है?

भारत में ऋषियों ने इस पर चिन्तन किया और पाया कि मन की एक चौथी अवस्था है। वह चौथी अवस्था साधना से उपलब्ध होती है। मन की तीन अवस्थाएँ तो हम प्रतिदिन अनुभव में लाते हैं। जैसे चेतन – जाग्रत अवस्था में हमारा मन चेतन अवस्था में रहता है। अवचेतन – जब सपना देखते हैं, तो वह मन की अवचेतन अवस्था है। अचेतन – जिस समय हम गहरी नींद में रहते हैं, तो वह अचेतन अवस्था है। इन तीन अवस्थाओं का अनुभव तो हम करते हैं। किन्तु एक चौथी भी अवस्था है, जो तीनों अवस्थाओं को पार कर जाती है। उसे हम अतिचेतन कहते हैं। इस चौथी अवस्था को प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य है, ऐसा हमारे मनीषियों ने कहा। यह चौथी अवस्था कैसी है? माण्डूक्य उपनिषद में हम पढ़ते हैं – **प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा सविज्ञेयः। (३-७)** जहाँ पर ऋषि कहते हैं, वह प्रपंच के उपशम की अवस्था है, वहाँ पर जगत-प्रपंच उपशमित हो जाता है। वह शान्त अवस्था है, वहाँ पर कोई चंचलता नहीं होती है। वहाँ मन की सारी चंचलता समाप्त हो जाती है। शिवम् अद्वैतं – वह कल्याण की अवस्था है, अद्वैत की अवस्था है, इसको चतुर्थ अवस्था कहा गया है, इसी को हम तुरीय अवस्था कहते हैं।

भारत के मनोवैज्ञानिक ने जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के साथ तुरीय अवस्था का भी अनुभव किया। चेतन, अवचेतन, अचेतन मन की अवस्थाओं के साथ मन की अतिचेतन अवस्था का भी अनुभव किया। वहीं जाकर के मनुष्य की सारी समस्याएँ सुलझती हैं।

जब हम केनोपनिषद पढ़ते हैं, तो इसमें भी प्रारम्भ से ही वही जिज्ञासा है। शिष्य यही अनुभव करता है कि क्या यह मन अपनी शक्ति से काम कर रहा है? अथवा इसके पीछे अन्य कोई है? इस दृष्टि से उसने जाकर गुरुजी से प्रश्न पूछा और गुरुजी ने उसका उस ढंग से उत्तर दिया। प्रसन्न होकर उन्होंने कहा – वत्स ! तुम्हारे इस प्रश्न को सुनकर मैं अति प्रसन्न हूँ। तुम्हारे भीतर जिज्ञासा हुई है कि मन किस प्रकार काम करता है? यह जिज्ञासा लोगों में होती ही नहीं है। वे तो बस मान लेते हैं कि मन काम कर रहा है। किन्तु मन कैसे काम करता है, यह तो तुमने ही पूछा है। तुम्हारी जिज्ञासा अच्छी है। इसके बाद वे श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो... आदि के द्वारा इसका उत्तर देते हैं, जिसकी व्याख्या मैं पहले कर चुका हूँ।

भारत के मनोविज्ञान की विशेषता है कि उसमें प्रारम्भ से ही मन की पूर्णता पर चिन्तन किया गया है। फ्रायड ने क्या किया है? प्रारम्भ से ही मन रोगी है, इसका चिन्तन किया है। दोनों मनोविज्ञान कैसे शुरू होते हैं? पश्चिमी मनोविज्ञान रोगी मन को लेकर के आरम्भ होता है और भारतीय मनोविज्ञान पूर्णता-प्राप्त मन को लेकर के प्रारम्भ होता है।

ऋषि पतञ्जलि का योगसूत्र भारतीय मनोविज्ञान का आधारभूत ग्रन्थ है। उसमें पहले ही योग के बारे में बताया गया। योग किसे कहते हैं? – योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः – चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध करना योग कहलाता है। यह पूर्णता प्राप्त मन का चित्रण है। यहीं से भारतीय मनोविज्ञान प्रारम्भ होता है। आप दोनों मनोविज्ञानों के अन्तर को देख सकते हैं। कहाँ पर यह अन्तर है? वह अन्तर केनोपनिषद में प्रस्फुटित हो रहा है, प्रकाशित हो रहा है।

गुरुजी ने समझा दिया कि आँखें देखती हैं, तो आँखों की आँख है, जिसके कारण आँखें देखने में समर्थ होती हैं, आखों को देखने की शक्ति भीतर की आँख देती है, कानों को सुनने की शक्ति भीतर का कान देता है, प्राणों को प्राणवान करने की शक्ति भीतर का प्राण देता है। अब शिष्य ने चिन्तन करना शुरू किया। उसे ऐसा लगा कि उसने कुछ जान लिया है। उसकी अपने ढंग से साधना पूरी हो चुकी। वह गुरुजी के पास आता है। गुरुजी पूछते हैं – क्या साधना पूरी हुई? शिष्य सिर हिलाता है। गुरुजी ने शिष्य के चेहरे पर चमक देखी। उन्हें ऐसा लगा कि शिष्य समझ रहा है कि उसने उस तत्त्व को प्राप्त कर लिया है। तब गुरुजी ने कहा, भीतर झाँको। बाहर झाँकने से, बाहर देखने से काम नहीं बनता। कल हमने यही कहा था।

स्वामी विवेकानन्द जी अनन्त को नियमों का पुंज कहते थे। जिसे हम ब्रह्म कहें या ईश्वर कहें, वह अनन्त नियमों का पुंज है। जैसे भगवान बुद्ध ने धम्म कहा। नियम धम्म है। धम्म संसार में अनुस्यूत है। जिसे हम विज्ञान की दृष्टि से कहेंगे कि जो अनन्त पुरुष है, जो ब्रह्म है, वह मानों नियमों का पुंज है। जब वह इस बाहर के धरातल पर अपने को प्रतिफलित करता है, तब हम कहते हैं, ये विज्ञान के नियम हैं। इन नियमों का आविष्कार हमारी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा, मन के द्वारा होता है। जब वही ब्रह्म भीतर मन के धरातल पर अपने को प्रतिफलित करता है, तो हम कहते हैं ये धर्म के नियम हैं, अध्यात्म के नियम हैं। बाहर के जो नियम हैं, उनको जानने की प्रक्रिया विज्ञान के द्वारा होती है और भीतर के जो नियम हैं, उनको जानने की प्रक्रिया अध्यात्म के द्वारा होती है। इन दोनों में कोई विरोध नहीं है, दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं। स्वामीजी जिस प्रकार कहा करते थे, बाह्य जगत के नियमों को जानना बहुत अच्छा है, पर भीतर के जगत के नियमों को जानना अधिक अच्छा है। क्योंकि जब तक हम भीतर के जगत के नियमों को नहीं जानते, जब तक आन्तरिक नियमों का आविष्करण हम स्वयं नहीं कर लेते, तब तक मनुष्य अपने ऊपर नियंत्रण नहीं प्राप्त कर सकता है। बाहर जगत के नियमों को हम कितना भी जान लें, पर मैं ऐसा नहीं कह सकता कि मैंने अपने मन पर शासन कर लिया है। वह तभी हो सकता है, जब मैं भीतर के नियमों को जानने में समर्थ हो जाऊँ।

शिष्य साधना करने के पश्चात् गुरु के पास आता है। गुरु को ऐसा लगता है कि शिष्य कहना चाहता है, गुरुजी ! उस ब्रह्म तत्त्व को, उस चैतन्य तत्त्व को, जो मन को प्रेरित करता है, मैंने जान लिया। गुरुजी कहते हैं यदि तू ऐसा मानता है कि तूने उस तत्त्व को अच्छी तरह से जान लिया है, तो मैं कहूँगा कि तूने नहीं जाना। तूने बहुत अल्प जाना। यदि मैं कहता हूँ कि मैंने इस घड़ी को अच्छी तरह से जान लिया, तो ऐसा मैं घड़ी के संदर्भ में कह सकता हूँ। क्योंकि मैं घड़ी को खोल लेता हूँ, इसके कलपुर्जे को अलग कर लेता हूँ और ऐसा करके मैं जान लेता हूँ। मैं इसे आँखों से देखता हूँ, कान से शब्दों को सुनता हूँ, त्वचा से इसका स्पर्श करता हूँ, इसलिए मैं कह सकता हूँ कि इसको मैंने अच्छी तरह से जान लिया। किन्तु जो ब्रह्मतत्त्व, जो चैतन्य तत्त्व, जिसे न तो नाक से सूंघा जा सकता है, न ही आँख से देखा जा सकता है, न कान से सुना जा सकता है, न त्वचा से जिसका स्पर्श किया जा सकता है, न रसना से जिसका स्वाद लिया जा सकता है, ऐसे तत्त्व को कौन कैसे कहेगा कि मैंने अच्छी तरह से जान लिया?

शिष्य के उस भ्रम को गुरुजी दूर करने की चेष्टा करते हैं, जिस भ्रम के कारण शिष्य समझता है कि मैंने अच्छी तरह से जान लिया है। ऐसा तो जीवन में कई बार होता है। कई ऐसी अनुभूतियाँ होती हैं, जिनको हम पाँच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से बता ही नहीं पाते हैं कि वह किस प्रकार की अनुभूति है, कैसी संवेदना है। **(क्रमशः)**

बचपन खेलकूद में बीत गया, यौवन कामासक्ति में समाप्त हो गया, वृद्धावस्था में व्यक्ति अपने कष्टों की चिन्ता करता है; किन्तु खेद है कि परमात्मा के लिए कोई भी व्याकुल नहीं होता।

– श्रीशंकराचार्य

सन्तों का सेवायोग : एक महारसायन

डॉ. विनोद कुमार सिंह, छपरा

'सेवा' कठिन धर्म है, इतना कठिन कि योगी भी उसका सम्यक निर्वाह नहीं कर पाते, 'सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः' किन्तु जो योगियो के लिए भी अगम्य है वह भक्तों के लिए सहज साध्य है। संभवतः इसीलिए विद्वानों ने भक्ति शब्द की निष्पत्ति 'भज् सेवायाम्' से मानी है। भक्ति अर्थात् सेवा। प्रत्येक कर्म में किंचित् 'अहं-बोध' शेष रहता है। चाहे ज्ञानी हो या योगी, जब तक उनके 'अहं' का सम्पूर्ण प्रक्षालन नहीं हो जाता, तब तक सेवावृत्ति का पूर्ण निर्वाह सम्भव नहीं है। कबीर कहते हैं –

माया तजि तो क्या भया मान तजा नहिं जाय।
मान बड़े मुनि पर गिले मान सबनि को खाय।।

भक्त होने की पहली शर्त है – सम्पूर्ण समर्पण। सम्पूर्ण समर्पण-भाव क्या निरहंकारी हुए बिना सम्भव है?

जीवन के दो ही आदर्श सम्भव हैं – १. मलिन वासना का क्षय जिसकी स्वाभाविक परिणति मुक्ति या निर्वाण है और २. वासना का शोधन अर्थात् ऐसे मन का निर्माण जिससे चराचर जगत का कल्याण हो सके। उसकी स्वाभाविक परिणति जीवन्मुक्ति या अर्हत भाव की उपलब्धि है।

शुद्ध वासना के लिए करुणा का विकास परमावश्यक है। करुणा सेवा का मूल है और सभी जीवों का दुख-दर्शन करुणा का मूल उत्स है। करुणावान व्यक्ति कभी किसी सत्त्व को, किसी प्राणी को निराश नहीं करता। इसी को अहैतुक कृपा कहा जाता है।

करुणा से मैत्री की उत्पत्ति होती है। इससे जगत के समस्त जीवों के प्रति स्नेह और लगाव उत्पन्न हो जाता है। द्वेष, क्रोध, राग, मोह, लोभ आदि वृत्तियाँ उपशमित हो जाती हैं। मनुष्य का मन अहिंसक हो जाता है। मैत्री सम्पन्न प्राणी सर्वदा मुदित रहता है। दूसरों के सुख को देखकर सुखी होना मुदिता है। मुदित व्यक्ति ईर्ष्या, द्वेषादि दुर्गुणों से मुक्त हो जाता है। उद्वेग और क्षोभ, प्रीति और राग-विरहित प्रसन्नता का भाव ही मुदिता है। इसकी सहजोपलब्धि के लिए सम्पूर्ण लोकैषणाओं से विरत होना जरूरी है। यह विरति ही उपेक्षा है।

योगदर्शन में चित्त की शुद्धि के रूप में उपर्युक्त करुणा, मैत्री, मुदिता और उपेक्षा के नियमित परिशीलन की उपयोगिता बतायी गयी है। भक्ति में इन चारों भावों का सहज समन्वय दिखाई पड़ता है। कबीर कहते हैं –

ऐसी भगति करो घट भीतर छाड़ कपट चतुराई।
सेवा बंदगी अरु अधीनता सहज मिले गुरुआई।।

भगवान बुद्ध के अनुसार सर्वदा सुख का उपसेवन करना जीव का लक्ष्य होना चाहिए। उसके लिए कुशल की उपसंपदा परमावश्यक है। राग, द्वेष और मोह अकुशलमूल हैं। राग के समान कोई अग्नि नहीं है, द्वेष के समान कोई कलि नहीं है और शान्ति के समान कोई सुख नहीं है। तीन अकुशल विर्तक हैं – काम, व्यापाद (दूसरे का अपकार चिंतन) और विहिंसा। इनका त्याग जरूरी है। तीन कुशल वितर्क हैं – नैष्कर्म्य, अव्यापाद तथा अविहिंसा। उनका संग्रह परमावश्यक है। साधन के तीन पथ हैं – शील, समाधि और प्रज्ञा (विपश्यना)। 'सब्ब पापस्स अकरणम्' ही शील है। कुशल की उपसम्पदा के उपरान्त चित्त एकाग्र हो जाता है। यह एकाग्रता समाधि है। विपश्यना यथार्थ बोध को कहते हैं। उसके लिए साधक को निरन्तर प्रयत्नशील और सचेत रहने की आवश्यकता होती है।

भक्त को ऐसे किसी प्रयत्न या सचेतता की जरूरत नहीं होती क्योंकि उपर्युक्त साधनों से जिस प्रेम की उपलब्धि होती है, वह भक्ति का मर्म है। बिना अहैतुक प्रेम के सम्पूर्ण समर्पण की कल्पना ही व्यर्थ है। जीव को जहाँ करुणा और दया 'तरल' बनाती हैं, वहीं प्रेम उसे वाष्प में परिणत कर देता है। बर्फ पहले पिघल कर पानी बनता है और तदुपरान्त वाष्प में परिणत होकर जगत के कल्याण के लिए मेघ का रूप धारणकर जीवन प्रदाता बनता है। धरनीदास कहते हैं – '**धरनीदास तासु बलिहारी जहाँ उपजे अनुराग**' जायसी के अनुसार प्रेम रहित मनुष्य एक मुट्ठी राख के अलावा और क्या है? प्रेम ही उसे दिव्य बनाता है – **मानुख प्रेम भयउ बैकुंठी नाहिं त कहा छार की एक मूठी**। 'प्रेम' आध्यात्मिक उत्कर्ष का मूल मन्त्र है। भक्ति या ज्ञान बिना प्रेम सम्भव ही नहीं है। परम

प्रभु प्रेम का अखण्ड आगार हैं। जब तक मनुष्य के मन में प्रेम की ज्योति नहीं जलती, तब तक उसका हृदय अंधकाराच्छन्न रहता है। जैसे सुहागा सोने को निर्मल बना देता है, वैसे ही प्रेम मनुष्य के मनोमालिन्य को नष्ट कर उसे अमृतत्व प्रदान करता है। प्रेम वह पवित्र वैश्वानर है जो जात-पात, स्तुति-निन्दा, दाम-काम, व्रत-नेम, पूजा-पाठ आदि जागतिक प्रपंचों को सहज ही भस्म कर देता है। प्रेम के बिना अद्वैत की उपलब्धि की बात करना ही व्यर्थ है। प्रेम के कारण ही समग्र सृष्टि में प्रभु की छाया दिखाई पड़ती है और मनुष्य सहज समता को प्राप्त कर लेता है। मोर तोर की जेवरी के बन्धन से मुक्त हो जाता है –

मोरि तोरि की जेंवरी बँटि बाँधा संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे जाके नाम अधार।।
समदृष्टी तब जानिए सीतल समता होय।
सब जीवन की आत्मा लखै एक सी सोय।।
दाया दिल में राखिए तू क्यों निरदय होय।
साईं के सब जीव हैं, कीड़ी कुंजर दोय।।

रैदास के शब्दों में जो 'नेह निरति करि' दूसरों की सेवा नहीं करता, जिसका हृदय दरदी नहीं है, वह कभी भी परमेश्वर की उपलब्धि नहीं कर सकता –

जाके दिल में दरद न आई। सो क्या जाने पीर पराई।
दुखी सुहागिनि होई पिव हीना। नेह निरति करि सेव न कीना।।

नरसी मेहता तो उसे ही वैष्णव मानते हैं, जो पराई पीर का अनुभव करता है तथा सम्पूर्ण मानाभिमान का त्याग कर दूसरों के उपकार में दत्तचित्त रहता है।

वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आने रे।।

अधिकांश लोग भक्ति का अर्थ भगवान की सेवा अर्थात् उनकी षोडशोपचार पूजा या ध्यानादि से लगाते हैं। इस सम्बन्ध में स्वामी शिवानन्द सरस्वती की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत करना उपयुक्त लगता है – 'दो दो घंटों तक कुम्भक क्रिया द्वारा श्वास रोक लेना, चौबीसों घंटे प्रार्थना रटते रहना, खाना-पीना छोड़कर तहखाने में चालीस दिनों तक समाधि लगाना, खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हुए जीभ काट लेना, ग्रीष्म ऋतु की चिलचिलाती धूप में एक पैर पर खड़े रहना, ठीक मध्याह्न के समय सूर्य पर त्राटक करना, किसी निर्जन और नीरव वन में ॐॐॐ का जप करना, संकीर्तन करते हुए अश्रुधारा बहाना, ये सब निरर्थक हैं, जब तक इनके साथ व्यक्ति में प्रत्येक प्राणी में स्थित ईश्वर के प्रति ज्वलन्त प्रेम न उमड़े और भूतमात्र में व्याप्त ईश्वर की सेवा करने की वृत्ति जाग्रत न हो।

ज्ञानी और योगी की सेवा

जिस व्यक्ति में ज्ञान और भक्ति है वही वास्तव में देश और जनता की पूरी सेवा कर सकता है। ज्ञानयोगी अनुभव करता है कि दूसरे की सेवा नहीं, वह अपनी आत्मा की ही सेवा कर रहा है। भक्त कर्मयोगी अनुभव करता है कि वह सब की सेवा के माध्यम से अपने इष्ट की ही सेवा कर रहा है, ऐसी सेवा जो केवल सेवा-भाव से की गयी हो, ईश्वरानुभूति होती है। एकात्मकता के अनुभव के बिना की गयी सेवा का तादात्म्यावस्था के आनन्द को नहीं दे पाता। सेवा सर्वतोभावेन अहैतुकी होनी चाहिए। हैतुकी सेवा तो बनियागिरी है –

फल कारण सेवा करै याचै त्रिभुवन राय।
दादू सो सेवग नहीं खेलै आपण डाव।।

परमेश्वर पारमार्थिक रूप से भले निर्गुण निराकार हो, जगत में विद्यमान चराचर जीवों के माध्यम से वह हमारे सामने सगुण-साकार रूप में व्यक्त है। निर्गुण की जिज्ञासा की जा सकती है, ध्यान भी किया जा सकता है, किन्तु सेवा तो साकार की ही की जाती है। कबीर कहते हैं –

सरगुन की सेवा करो, निरगुन का करो ध्यान।

सगुण की सेवा से यहाँ कबीर का भाव निश्चित रूप से जीवों की सेवा से ही है, क्योंकि वे ईश्वर के अवतार या उनके विग्रह पूजन के विरोधी हैं। यदि परमात्मा अवतरित होता है, तो वह विभिन्न जीवों के रूप में सहज दृष्ट है। इसलिए **चराचर जगत के जीवों की सेवा ही परमप्रभु की सर्वोत्तम आराधना है**।

विश्व ईश्वर का व्यक्तरूप और सेवा सच्ची पूजा है

सर्वप्रथम सेवा जीव को जीव से जोड़ती है। स्वामी शिवानन्द सरस्वती कहते हैं – 'सेवा के द्वारा हृदय शुद्ध होता है। अहंभाव, घृणा, ईर्ष्या, उच्चता की भावना, द्वेष, दूसरों के प्रति हीनभावना तथा इसी प्रकार की अन्य सारी कुत्सित भावनाओं का नाश होता है तथा नम्रता, शुद्ध प्रेम, सहानुभूति, सहिष्णुता, दया और ऐसे ही अन्य गुणों का विकास होता है। सेवा से स्वार्थ भावना मिटती है। द्वैतभाव क्षीण होता है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण विशाल

और उदार बनता है । एकता का भान होने लगता है। एक में सब और सब में एक की अनुभूति होने लगती है। विश्व ईश्वर का ही व्यक्त रूप है और सेवा ही ईश्वर की पूजा है।'

भक्ति-आन्दोलन लोक-चेतना के जागरण का आन्दोलन है। निरंकुश शासन, महाजनी मकड़जाल जात-पात और पौराणिक आडम्बरी धर्म के सींकचों के अन्दर कैद, त्रस्त, हताश, कांपती हुई भारतीय जनता की सुप्त कुंडलिनी को जाग्रत करने के लिए उसे उपदेश देने की नहीं, उससे अन्तरंगता स्थापित करने की जरूरत थी। निरीह जनता के मन की गुलामी को दूर करने के लिये संतों ने 'सेवा के महारसायन का प्रयोग किया और इस माध्यम से उनकी आध्यात्मिक शक्ति को जगाने का प्रयास किया। उन्होंने यह बताया कि जाति के आधार पर, धर्म के कारण, सत्ता और धन के बिना दूसरों के प्रति ऊँच-नीच का भाव गोरखधन्धा है, एक षडयंत्र है।' मधिम, छोटा वह नहीं है, जो गरीब है, नीच कुल में जन्मा है या छोटे-मोटे कामों के द्वारा जीवन यापन करता है, बल्कि मधिम वह है, जो स्वार्थी है, केवल अपने बारे में सोचता है, परपीड़न में आनन्द का अनुभव करता है, मक्खी के समान ऐहिक भोगों के मल के लिए बेचैन रहता है, प्राणी मात्र में राम के दर्शन नहीं करता। निर्भयता और आत्मविश्वास के इस भाव को उत्पन्न करने के लिए अधिक से अधिक विनय, मस्ती और समग्र ऐहिक उपलब्धियों के प्रति नकारने की आवश्यकता थी।

सन्तों ने गर्दन ऊँची कर ऐसी तमाम उपलब्धियों को एक झटके से नकार दिया –

बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर ।
पंछी को छाया नहीं फल लागे अति दूर ।।
कोठा महल अटारिया सुनेहु स्रवन बहु राग।
सतगुरु सबद चीन्हें बिना ज्यों पंछिन्ह मंह काग ।।
अरब खरब लौं द्रव्य हैं रावल कोटि अनंत ।
नाहक जग में आइया जिन्ह सेये नहीं संत ।।
विद्या मद अरु गुनहु मद राजमद्द उन्मद्द ।
इतने मद को रद करै तब पावै अनहद ।।

भौतिक सम्पन्नता की आकांक्षा आत्मा के उल्लास को छीन लेती है। स्वतन्त्रता बड़ी चीज है। उसके लिये समस्त दैहिक सुखों की लालसा को त्यागना पड़ता है। सन्तों के स्वेच्छयार्जित दैन्य और मन:संयम का यह एक प्रमुख कारण है। अनिकेतनता का अपना एक भूमानन्द होता है। साका दिये बिना मस्त होकर जूझा नहीं जा सकता। सन्तों ने जिस गरीबी, बंदगी और सेवाभाव को ग्रहण किया था, वह हारे का हरिनाम नहीं था। प्रलोभनों के तिरस्कार ने उनके मन को बुलंद और मस्त बना दिया था। वे तलवार की धार पर निडर चलना जानते थे। इसके लिए वे हर कीमत चुकाने को तैयार थे –

रूखो सूखो खाइ कै खूधो रहिए सोय ।
ता तरू आसन कीजिए पेड़ पातरो होय ।।
आपा गर्व गुमान तजि मदमंछर हंकार।
गहै गरीबी बंदगी सेवा सिरजनहार ।।

संसार दु:खी है। वे लोग जो भौतिक उपलब्धियों से घिरे हैं, दु:खी हैं। वे जो पांडित्य की गठरी माथे पर लादे फिरते हैं, बेचैन हैं। वे जो सत्ता के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ होकर, गर्दन फुला-फुलाकर 'गुटरूं गूं' कर रहे हैं, भीतर भीतर बेहद डरे हुए हैं। वे जो धर्माधिकारी बनकर दंभ से ऐंठे हुए हैं, भीतर से बेहद खोखले हैं। अजीब आपाधापी है। हर आदमी एक दूसरे का शत्रु बना हुआ है - **जग में सुखिया कोइ न देखा जो देखा सो दुखिया हो**। ऐसे दुखी संसार के दुख को दूर करने का सर्वोत्तम प्रयास सेवा है। मध्ययुगीन संत यही कर रहे थे।

जिसके चित्त में परदुख को मिटाने की इच्छा अत्यन्त प्रबल होती है, वह विदेह मुक्ति की आकांक्षा नहीं करता। उसका यह प्रयत्न भोगेच्छा हेतु नहीं, अपितु जीव-सेवा का अधिकाधिक अवसर प्राप्त करने के लिए है। इसीलिए न कबीर मुक्ति चाहते हैं, न तुलसी न कोई अन्य सन्त। संतो के लिए बैकुंठ या मुक्ति दोनों का कोई मूल्य नहीं है। कबीर आदि संत तो मुक्ति को 'बलाय' की संज्ञा देते हैं। वे कहते हैं – राम, हम तरना नहीं चाहते, इसी संसार में रहना चाहते हैं। हमारे लिये तो सज्जनों की सेवा ही बैकुंठ है। –

राम मोहि तारि कहां लै जैहों ।
सो बैकुंठ कहौं धूँ कैसा करि पसाव मोह दैहो ।
जे मेरे जीव दोइ जानत है तो मोहि मुकुति बताओ ।
एकमेक रमि रह्या सबनि मैं तो काहे भरमाओ ।।
तारण तिरण जबै लगि कहिए तब लग तत्त न जाना ।
एक राम देख्या सबहिन मैं कहै कबीर मनमाना ।।

OOO

साधक-जीवन कैसा हो ? (१०)

स्वामी सत्यरूपानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

अत: हमें कुप्रवृत्ति और साधक-जीवन में से एक साधक-जीवन का चुनाव करना है। चुनाव करने की क्षमता प्रत्येक मनुष्य में है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि यदि आप अपनी दुर्बलताओं को जान लें, तो आप उनसे मुक्त हो जायेंगे। यदि मैं जान लूँ कि मैं चोर हूँ, तो चोरी से कैसे मुक्त हो जाऊँगा? इसके लिये हमें विचार भी करना होगा कि चोरी करना ठीक नहीं है, इससे मुझे हानि होगी, इन सब दोषों को यदि मैं जानूँ और विवेकपूर्वक मन को लगातार समझाऊँ, तब उससे मुक्त हो सकूँगा, केवल जान लेने से नहीं। केवल जानने से भी लाभ होता है। जानी हुई बात भविष्य में काम देती है।

सुबह चर्चा हो रही थी जो छोटी-छोटी दुर्बलताएँ है, जो छोटी-छोटी इच्छाएँ या वासनाएँ हैं, पहले उनको समाप्त करने या पूर्ण करने का प्रयास करना चाहिये। श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं कि छोटी-छोटी वासनाओं को विचारपूर्वक भोगकर समाप्त कर लो, श्रीठाकुर ने बहुत अच्छा उसका उपाय और उदाहरण बताया है। ये सभी अन्तर्यात्रा की बातें हैं, बाहर से विशेष सम्बन्ध नहीं है।

श्रीरामकृष्ण देव जब वे मथुर बाबू के साथ रहते थे, तो वे बड़े-बड़े जमींदारों को देखते थे। एक जमींदार चाँदी के हुक्के में तम्बाकू पी रहा था। उसने बहुत कीमती शॉल ओढ़ रखी थी और बहुत कीमती चौड़ी किनारवाली अच्छी रेशम की धोती पहनी थी। श्रीठाकुर बालक स्वभाव के थे। उन्हें भी रेशमी वस्त्र पहनने और चाँदी के हुक्के में तम्बाकू पीने की इच्छा हुई। मथुरबाबू से उन्होंने कहा – मथुर मैं चाँदी के गुड़गुड़े में बहुत अच्छी कीमती तम्बाकू पीऊँगा। मथुर ने कहा, हाँ बाबा ! मथुर बाबू कलकत्ते के जानबाजार में अपनी ससुराल में रहते थे। वहाँ ठाकुर को ले गए। उनकी ससुराल का घर मानो राजमहल ही था। उन्होंने बाबा के लिए चाँदी का हुक्का मँगवाया और उस जमाने में १००० रु. का पश्मिना का शॉल खरीद कर लाया तथा बहुत कीमती रेशमी धोती खरीदी और ठाकुर को दे दी। ठाकुर भी बड़े प्रसन्न। उन्होंने रेशमी धोती पहनकर उपर से शाल ओढ़ लिया। नौकरों ने चाँदी के हुक्के में तम्बाकू सुलगाकर दे दिया। तब ठाकुर ने बायीं ओर से एक कश लगाया, एक बार दायीं ओर से कश लगाया और बीच से एक कश लगाया। पहनी हुई धोती और ओढ़ी हुई शॉल को देखकर ठाकुर ने सोचा कितना सुन्दर लग रहा है ! आप और हम भी ऐसे ही करते हैं। किन्तु अन्तर कहाँ है, जानते हैं? श्रीरामकृष्ण देव ने यह अनुभव लेकर अपने मन को कहा – अरे मन ! इसी का नाम है चाँदी के गुड़-गुड़े में तम्बाकू पीना, इसी का नाम है कीमती शॉल ओढ़ना और यही कीमती रेशमी धोती पहनना है। किन्तु यदि तू इसमें रम जायेगा, तो ईश्वर को भूल जाएगा, ईश्वर से दूर हो जाएगा। ऐसा सोचते ही उन्होंने हुक्का फेंक दिया और शॉल को जमीन पर फेंककर पैर से रौंदने लगे। वे तो शॉल को जला देना चाहते थे, किन्तु कोई नौकर था, जो उठाकर लेकर चला गया। प्रलोभन तथा लोभ से बचने का प्रत्यक्ष उपाय हमें श्रीठाकुर ने अपने जीवन से दिखा दिया।

हमें सहज होना चाहिए। सहजता क्या है? हम लोग आधुनिक युग में रहते हैं। बहुत-सा काम करना पड़ता है। समय का हमेशा ध्यान नहीं रहता। हमारे पास घड़ी अवश्य होनी चाहिये, नहीं तो समय का पता नहीं लगेगा । अगर यहाँ आश्रम में मंगेश महाराज मेरे सामने घड़ी न रखते, तो मेरा टेपरेकार्ड बंद नहीं होता, आरती की घण्टी बजने तक चलते ही रहता। सहजता यह है, समय देखने के लिए मुझे एक घड़ी की आवश्यकता है। उसके अनुसार काम करूँ। असहज क्या है? मैंने ओमेगा घड़ी डेढ़ लाख रूपये की खरीद ली। मान लीजिए आपने पूछा, महाराज कितना बजा है आपकी घड़ी में? मैं कहूँ, अभी ४.२५ बजा है। किसी भक्त की दी हुई डेढ़ लाख की घड़ी परम मूर्खता से स्वीकार कर ली और तब मैं पुछूँ तुम्हारी घड़ी में कितना बजा है? पाठकजी बोले, महाराज ४ बजकर २५ मिनट। अरे तुम्हारी घड़ी २,००० या १५०० की है, तो उसमें ४.२५ हुआ है, तो हमारी डेढ़ लाख की घड़ी में ५ बजकर २५ मिनट बजाओ। ऐसा सोचना असहजता है।

सहज होना बहुत सरल है। साधक या साधिका को सहज होना चाहिये। सहजता अन्तर्यात्रा है। जटिलता, कुटिलता ये सब अन्तर्यात्रा में बहुत बाधक हैं। अपनी जटिलता-कुटिलता को दूर करने के लिये अन्तर्निरीक्षण करना चाहिये। हमें बार-बार सावधान होकर मन में उठ रहे विचारों को निर्लिप्त होकर देखना चाहिए कि क्या-क्या भाव मेरे मन में आ रहे हैं। धीरे-धीरे ऐसा करने से विचारों से यथासमय परिचय हो जाता है। **(क्रमशः)**

स्वामी अखण्डानन्द जी का छोटा नेपाली बहादुर

स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द जी ने एक अनाथाश्रम खोला था। उनके इस कार्य के बारे में जानकर उनके एक परिचित ने दार्जिलिंग से चार अनाथ बालक भेजे। इनमें से सबसे छोटे लड़के का नाम था बहादुर।

बहादुर अपने नाम के अनुरूप सचमुच बहादुर ही था। ९ वर्ष की उम्र में उसे इस आश्रम में लाया गया। वह योद्धा गोरखा जाति की सन्तान था और शैशव से ही मातृ-पितृहीन था। उसके पिता की युद्ध में मृत्यु हो गई थी। उसकी बुद्धि और मेधा तीक्ष्ण थी। नेपाल के इतिहास की उसे अच्छी जानकारी थी। नेपाल के राज्य-शासनादि विषयों पर वह इस प्रकार चर्चा करता कि सुनने वाले दंग रह जाते।

दुर्भाग्यवश उसकी एक आँख चली गई, परन्तु दूसरी आँख की दृष्टि अत्यन्त प्रखर थी। कोई वस्तु खो जाने पर यदि किसी को नहीं मिलती, तो अन्त में बहादुर ही उसे ढूँढ़ लाता। उसका कण्ठ बड़ा सुरीला था। उसके गाने पर मुग्ध होकर सभी लोग उसे स्नेह करते।

एकबार बहादुर की आँखें जाँच करने के बाद डाक्टर ने स्वामी अखण्डानन्द से कहा कि वे बहादुर का पढ़ाना छुड़ाकर गाना सिखाएँ। बहादुर को कहने पर उसने कहा, 'स्वामीजी, मेरे साथ दूसरे लड़के पढ़ेंगे-लिखेंगे और मैं अज्ञानी रहूँगा? मुझसे यह सहा नहीं जाएगा।' इस तरह बहादुर को दिन में पढ़ने की तो अनुमति मिली, किन्तु रात में पढ़ना उसके लिए निषिद्ध था।

बहादुर की असाधारण मेधा तथा ज्ञानपिपासा को देखकर स्वामी अखण्डानन्द को विशेष आनन्द होता। फुर्सत के समय ग्यारह वर्ष का बहादुर महाराज के सामने प्रश्नों की झड़ी लगा देता, 'स्वामीजी, यदि आकाश का कोई रंग नहीं, तो वह क्यों नीला दिखता है? नक्षत्रों का प्रकाश कहाँ से आता है? अच्छा स्वामीजी, मर जाने पर मनुष्य का शरीर तो नष्ट हो जाता है, फिर उसका दुबारा जन्म कैसे होता है?' स्वामी अखण्डानन्द को बाध्य होकर कहना पड़ता, 'बहादुर, इसका उत्तर अभी बताने से तुम समझ नहीं सकोगे। बड़े हो जाओ, तब बताऊँगा।' दो-चार दिन बाद ही बहादुर फिर आकर पूछता, 'बाबा, क्या आज मैं बड़ा हो गया हूँ? आज क्या आप उन प्रश्नों का उत्तर देंगे?'

स्वामी अखण्डानन्द जब स्वामी विवेकानन्द से मिलने बेलूड़ गए, तब बहादुर और उसके मित्रों को भी साथ ले गए। इन नन्हें बच्चों को देखकर स्वामीजी विशेष आनन्दित हुए और अखण्डानन्दजी से कहा, 'भाई, अब उस आश्रम को तुम अनाथाश्रम मत कहना, ये लोग अब सनाथ हैं।'

एक दिन स्वामी अखण्डानन्द बहादुर तथा अन्य बच्चों को लेकर पड़ोस के गाँव से जा रहे थे। अतिवृष्टि के कारण गाँव के कई स्थान जलमग्न हो गए। उन्होंने देखा कि एक छोटा-सा बालक पाँव फिसल जाने के कारण पुलिया से गिर पड़ा है। पानी के तेज धारा में उसे डूबते देख बहादुर बिजली की तेजी से दौड़कर पानी में कूद पड़ा और थोड़े प्रयास से ही बालक को बाहर निकाल लाया। थोड़ी और देर हो जाने से बालक के प्राण ही चले जाते। दस वर्ष के बहादुर ने एकबार और भी इसी तरह एक डूब रहे बालक की जान बचाई थी। मुर्शिदाबाद जिले के विख्यात नेता वैकुण्ठनाथ सेन को जब बहादुर के इन दो महान कार्यों के बारे में पता लगा, तो उन्होंने उसे पुरस्कार द्वारा सम्मानित करने की घोषणा की।

एक बार स्वामी अखण्डानन्द कुछ दिन के लिए बहादुर को साथ लेकर एक गाँव गए। वहाँ बहादुर का गाना सुनकर तथा मल्लयुद्ध में उसका पराक्रम देखकर जमींदार-परिवार के सभी लोग मुग्ध हुए और घर की महिलाओं ने उसे पुरस्कार के रूप में कुछ धन दिया। उदारचेता बालक ने आश्रम लौटते ही उस धन को अपने अनाथ-भाइयों के बीच बाँट दिया। बालक की इस उदार बुद्धि को देखकर स्वामी अखण्डानन्द को भी आश्चर्य हुआ।

बहादुर के लिए रात में पढ़ना निषिद्ध था, अत: उस समय वह 'स्वामीजी' के पास बैठकर इतिहास, भूगोल, ज्योतिष आदि विषयों पर मौखिक प्रश्नों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता। एक दिन तेरह वर्ष के इस बालक ने अखण्डानन्द जी से कहा, 'स्वामीजी, मैं जानता हूँ – आश्रम के इन लड़कों में से कोई भी नहीं रहेगा; परन्तु मैं बड़ा होकर

आपकी सेवा करूँगा और आश्रम की उन्नति के लिए प्रयास करूँगा, ऐसा प्रयत्न करूँगा कि आप शान्ति और विश्राम पा सकें।' बालक की ये बातें सुनकर अखण्डानन्दजी भावविह्वल हो जाते और सोचते कि केवल तीन वर्ष ही आश्रम में रहने से ही इस बालक में कैसे दिव्य-भावों का जागरण हुआ है?

किन्तु संसार का यह नियम है कि सर्वाधिक सुन्दर तथा सुवासित फूल ही कीड़ों के शिकार होते हैं। एकबार बहादुर सहसा बीमार पड़ गया और उसके नीरोग होने की कोई सम्भावना नहीं दिख रही थी। चिकित्सक लोग रोग का निदान नहीं कर पा रहे थे और बहादुर भी दिन-पर-दिन कमजोर होता जा रहा था।

इस तरह छह महीने बीत गए और साहसी बहादुर कंकाल मात्र रह गया। स्वामी अखण्डानन्द के पास आते ही वह उनका हाथ पकड़कर आनन्द से कहता, 'आपका स्पर्श करते ही मेरा दग्ध शरीर शीतल हो जाता है।' बालक का सरल पवित्र स्नेहभाव सर्वत्यागी संन्यासी को अभिभूत कर देता।

आश्रम के एक निर्धन मेधावी बालक फणिभूषण ने उन दिनों बड़ी लगन से बहादुर की सेवा-शुश्रूषा की थी। बहादुर आठ महीनों तक बिस्तर पर पड़ा रहा, किन्तु अन्त तक उसका आचरण वीरों जैसा बना रहा। वह कहता, 'प्राण रहते बिछौने पर लेटकर मैं कदापि नहीं खा सकता; परन्तु यदि स्वामीजी मुझे खिलाते हैं, तो अलग बात है।'

मृत्यु के दो-तीन दिन पूर्व आश्रम के एक उत्तर भारतीय त्यागी सेवक चौबेजी के नेत्रों से अश्रुपात होते देखकर कंकाल-सा हुआ बालक बहादुर कह उठा, 'चौबेजी, रोते क्यों हैं? मेरा शरीर भले ही चला जाए, परन्तु मैं तो नहीं मरूँगा !'

मृत्यु के पूर्व बालक ने रट लगाई, 'मैं मन्दिर जाऊँगा – बेलूड़ के ठाकुर-मन्दिर में। मेरे सिर के पास गीता रख दीजिए।'' श्रीरामकृष्ण का चित्र तथा गीता लाए जाने पर उसने उन्हें अपने मस्तक तथा सीने से स्पर्श कराकर सिरहाने रख लिया। उस अवस्था में भी वह देवी-देवताओं के दर्शन की बातें कह रहा था। १७ जनवरी, १९०२ ई. को सन्ध्या का समय था; दिन और रात के उस सन्धिक्षण में – 'आत्मा अमर है, परमेश्वर, परमेश्वर' – इस वाक्य का उच्चारण करते हुए बहादुर ने अन्तिम साँस ली।

सहज ही जिज्ञासा होती है – यह बहादुर कौन था? सड़कों पर भिक्षा माँगते हुए अत्यन्त कष्टपूर्वक दिन बितानेवाला यह अनाथ बालक कौन था? उसके इस आकस्मिक निधन पर सर्वत्यागी संन्यासी स्वामी अखण्डानन्द को कितना कष्ट हुआ था, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। ○○○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

२८५. हरि भगति अति सुखदायक

विनोबा भावे की उम्र तब ८ वर्ष की थी। एक रात को उनकी माँ दही जमाते समय धीरे-धीरे कोई अभंग गा रही थी कि बालक विनोबा ने पूछा, 'माँ, क्या दही जमाते समय भी भगवान का नाम लेना चाहिए? ''हाँ बेटे'' माँ ने कहा, ''दही जमाते समय ही नहीं, कोई भी काम करते समय हमें भगवान का स्मरण करना चाहिये। इससे हमारा काम कब खत्म हुआ पता ही नहीं चलता।'' इसी समय पिताजी वहाँ आए और उन्होंने पत्नी से कहा, ''कल तुम्हें भगवान को एक लाख अक्षत (अखंड चावल के दाने) अर्पित करना है। मां के 'जरूर करूँगी' कहने पर विनोबा ने पूछा, 'माँ, तुम्हें तो गिनती आती नहीं, फिर एक लाख अक्षत कैसे गिनोगी?'' माँ बोली, ''बेटे, इसमें महत्व गिनती का नहीं भाव का है। यदि श्रद्धाभाव से हम दस अक्षत भी भगवान को अर्पित करेंगे, तो वे एक लाख के बराबर होंगे। एक संत के वचन हैं – संख्या नहीं शक्ति जीतती है, बुद्धि नहीं भावना जोड़ती है।'' एक बड़े बर्तन की ओर इशारा करते हुए उन्होंने बालक से कहा, ''तुम्हारे पिताजी का कहना है कि इस बर्तन को चावल से भरने पर हाथ की जितनी उंगलियाँ है, उतनी बार अर्पित करने पर एक लाख जितने अक्षत हो जायेंगे। भगवान को फूल, अक्षत आदि अर्पित करने समय श्रद्धा-भक्ति होना जरूरी है। भगवान अपने हैं, यह भाव मन में आना ही भक्ति है। भगवान हमारे हृदय में विराजमान हैं, यह विश्वास हमें अपने मन में पैदा करना चाहिये। भगवान करुणानिधि हैं, दया के निधान हैं, सर्वहितैषी हैं, यह भाव मन में आना उनके प्रति हमारी आस्था का द्योतक है। किन्तु उनकी उपासना या पूजा करते समय किसी बात की इच्छा नहीं करनी चाहिए।'' माँ के ये शब्द बालक बिनोबा के हृदय में पैठ गए। इसी का परिणाम यह हुआ कि लोगों ने उन्हें 'संत' की उपाधि देकर उन्हें गौरवान्वित किया।

भगवद्भक्ति एक पवित्र संवाद है। सच्चे हृदय से किये जाने वाले जप, तप, ध्यान भजन स्तोत्र पठन-पूजन अर्चन से सब भगवान की ओर ले जाने के सुलभ मार्ग हैं। इन्हें आस्थापूर्वक अपने जीवन में स्थान देने पर हमें सद्गति मिलेगी। ○○○

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है, जिसका संकलन स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

६४. भविष्यवाणी अविश्वसनीय है

एक ज्योतिषी की एक प्राचीन कहानी है। उसने एक राजा के यहाँ जाकर उन्हें बताया, "छह महीनों के भीतर आपकी मृत्यु हो जाएगी।"

राजा भयभीत होकर किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया और भय के कारण तत्काल ही प्राय: मरणासन्न हो गया। परन्तु उनका मंत्री एक बुद्धिमान आदमी था। उसने राजा से कहा कि ये ज्योतिषी लोग मूर्ख होते हैं। राजा को उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ।

मंत्री ने राजा को उन लोगों की मूर्खता प्रमाणित करने का दूसरा कोई उपाय न देखकर उस ज्योतिषी को एक बार फिर राजभवन में बुलवाया। मंत्री ने उससे पूछा, "क्या तुम्हारी गणना सही है?" ज्योतिषी बोला, "इसमें भूल होने की कोई सम्भावना नहीं है। परन्तु मंत्री को सन्तुष्ट करने के लिए उसने दुबारा पूरी गणना की और उसके बाद उसने बताया कि उसकी भविष्यवाणी बिल्कुल सही है। राजा का चेहरा पीला पड़ गया।

मंत्री ने ज्योतिषी से पूछा, "और आपकी मृत्यु कब होगी, इस विषय में आपकी गणना क्या बताती है?"

वह बोला, "बारह वर्षों बाद।"

मंत्री ने तत्काल अपनी तलवार खींची और ज्योतिषी का सिर उसके धड़ से अलग कर दिया। उसके बाद उसने राजा से कहा, "आपने इस झूठे की हालत देख ली न? यह तो अभी इसी क्षण मर गया।" (९/१५६)

६५. हम लोग भेंड़ नहीं, अपितु सिंह हैं

क्या हमें लोगों को ऐसी सलाह देनी चाहिए कि अपने घुटने टेककर चिल्लाओ, "हाय, हम कितने अभागे हैं, कितने पापी हैं?" नहीं, बल्कि हमें उनको उनके दैवी स्वरूप की याद दिलानी होगी। इस सन्दर्भ में मैं तुम्हें एक कहानी बताऊँगा।

एक बार एक सिंहनी शिकार की खोज में भेड़ों के एक झुण्ड के पास आ पहुँची। वह ज्योंही अपने शिकार के ऊपर कूदी कि उसे बच्चा हो गया और उसकी उसी स्थान पर मृत्यु हो गयी। सिंह का वह बच्चा भेड़ों के बीच ही पलने लगा। वह उन्हीं के साथ घास खाता और उन्हीं के समान 'में-में' की आवाज में मिमियाता। उसे कभी पता ही नहीं चला कि वह एक सिंह है। एक दिन एक दूसरा सिंह उधर से होकर गुजरा। उसे यह देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि एक विशाल सिंह घास खा रहा है और भेंड़ों के समान मिमिया रहा है। इस नये सिंह को देखकर सभी भेंड़ें भाग निकलीं। उनके साथ वह सिंह-भेड़ भी भाग गया। परन्तु वह सिंह मौका देखता रहा और और एक दिन वह सिंह-भेड़ उसे अकेला सोता हुआ मिल गया।

उसने उसे जगाया और बोला, "तुम सिंह हो।"

दूसरे सिंह ने उत्तर दिया, "नहीं।" यह कहकर वह भेड़ों की तरह मिमियाने लगा।

इस पर वह नया सिंह उसे पकड़कर एक झील के पास ले गया और बोला, "तुम पानी के ऊपर अपना प्रतिबिम्ब देखो और बताओ कि क्या तुम्हारा चेहरा मुझसे मिलता-जुलता नहीं है?" उसने वैसा ही किया और अन्त में वह स्वीकार करते हुए बोला, "हाँ, ठीक ऐसा ही है।" तब उस नये सिंह ने गरजना शुरू किया और उससे भी वैसा ही करने को कहा। सिंह-भेड़ ने वैसी ही आवाज निकालने का प्रयास किया और क्रमश: उस नये सिंह की ही भाँति जोर की आवाज में गरजने लगा। तभी से उसका भेड़पना जाता रहा।

मेरे मित्रो, मैं तुम्हें बताना चाहूँगा कि तुम सभी सिंह के समान ही सबल हो।

यदि कमरे में अँधेरा है, तो क्या तुम छाती पीट-पीटकर चिल्लाते रहते हो कि 'हाय, इसमें तो अँधेरा है, अँधेरा है, अँधेरा है!' तुम ऐसा नहीं करते। यदि तुम उजाला चाहते हो, तो एक ही उपाय है – तुम रोशनी जलाओ और तब अँधेरा अपने आप ही दूर हो जाएगा। तुम्हारे ऊपर जो प्रकाश है, उसे प्रकट करने का एक ही उपाय है, तुम अपने भीतर का आध्यात्मिक प्रदीप जलाओ; और तब पाप एवं अपवित्रता का अन्धकार स्वयं ही भाग जाएगा। तुम अपनी आत्मा के निकृष्ट रूप का नहीं, बल्कि उसके उत्कृष्ट रूप का चिन्तन करो। (२/२३६)

मंगलकारिणी शक्तिमयी माँ दुर्गा

पं. मनोज शुक्ला, रायपुर

शक्ति – वह शुद्ध तत्त्व जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार है, शक्ति कहलाता है। इसके दो नाम हैं - चेतन व चित्। अर्थात् माया में प्रतिबिंबित इसी तत्त्व की जब पुरुष रूप में उपासना की जाती है, तब इसे भगवान और ईश्वर आदि नामों से पुकारते हैं और जब इसी तत्त्व की स्त्री (देवी) रूप में आराधना करते हैं, तो भगवती तथा दुर्गा आदि नाम से सम्बोधित करते हैं। इसी प्रकार शिव-गौरी, विष्णु-लक्ष्मी, राधा-कृष्ण, सीता-राम ये परस्पर अभिन्न हैं, इनमें कोई भेद नहीं है। एक ही ब्रह्म शक्ति है, जो विविध नामों से विख्यात है। ऋग्वेद में लिखा है - '**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**'। केवल उपासकों के दृष्टि-भेद से ही इनके नाम व रूपों में भेद माना गया है। शक्ति उपासना प्राय: सिद्धि प्राप्ति के लिये ही की जाती है। दैवी प्रकृति वाले उपासक गंध, पुष्प आदि सात्विक पदार्थों के द्वारा नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। वहीं आसुरी प्रवृत्तिवाले मद्य, मांस आदि का सहारा लेकर सिद्धि लेते हैं। जिसके पास जितनी शक्ति होगी, वह उतना ही समर्थ कहलाता है, क्योंकि इन दोनों में कोई भेद नहीं है। 'शक्ति और सामर्थ्य' एक दूसरे के पूरक हैं। घर में जलते हुए दीपक का प्रसारित प्रकाश के साथ जो सम्बन्ध है, वही इनके बीच में है। यहाँ प्रकाश सामर्थ्य है और दीपक की ज्योति शक्ति है। प्रकृति में जितनी भी शक्तियाँ हैं या विश्व में जहाँ भी शक्ति का स्फुरण दिखता है, वहाँ सनातन प्रकृति अथवा जगदम्बा की ही सत्ता है। उस शक्ति को जगत-पिता न कहकर जगत-माता कहा गया है। क्योंकि वह जननी की भाँति सृष्टि को विकास के पूर्व अपनी उदर में रखती है। उसका वृद्धि व पोषण करती है तथा वृद्धि हो जाने पर रक्षा करती है। वह ब्रह्मा, विष्णु व महेश की भी जननी है। इसीलिये उस सर्वसामर्थ्ययुक्त मूलाशक्ति को महादेवी भगवती महामाया कहा गया है। दुर्गा सप्तशती के प्रथम चरित्र की कथा से ज्ञात होता है कि जगत का कोई भी कार्य उस शक्ति के बिना नहीं किया जा सकता। स्वयं विष्णुजी भी नहीं। ब्रह्माजी ने योग-निद्रा का स्तवन कर सुप्त विष्णु जी को जगाने के लिये निवेदन किया, तब उस शक्ति की कृपा से ही विष्णुजी ने बुद्धि-शक्ति का प्रयोग कर, ''मधु कैटभ'' का संहार किया। मध्यम चरित्र में महिषासुर की पाशविक शक्ति के विनाश के लिये आपस में सभी देवताओं की शक्ति को एकत्र किया। उत्तम चरित्र में शुंभ-निशुंभ के वध के लिये पार्वती जी के शरीर से शक्ति का प्रार्दुभाव हुआ।

दुर्गा नाम क्यों पड़ा – पद्मपुराण के अनुसार प्राचीन काल में हिरण्याक्ष-कुल में दुर्गम नाम का एक दैत्य हुआ, जिसने पितामह ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिये हिमालय पर्वत में हवा पी-पीकर कई हजार वर्षों तक कठिन तपस्या की। उसकी तपस्या से चतुर्मुख ब्रह्माजी प्रसन्न हो गये और प्रकट होकर बोले - दैत्यराज दुर्गम मैं तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न हूँ, वर माँगो। तब उस दैत्य ने कहा - प्रभु, आप यदि मेरी तपस्या से प्रसन्न हैं, तो मुझे यह वरदान दीजिए कि देवताओं के वेद मुझे मिल जायँ, ब्रह्माजी ने उन्हें यह वरदान दे दिया। दुर्गम दैत्य के हाथ में वेद जाते ही ब्राह्मणों का सन्ध्या-वन्दन, जप-तप, यज्ञ तथा नित्य होम आदि सब क्रियाएँ रुक गयीं। चारों और हाहाकार मच गया। देवताओं को हवन के द्वारा मिलनेवाली हवि का भाग भी मिलना बन्द हो गया। यह दैत्य अत्यधिक शक्तिशाली हो गया तथा देवराज इन्द्र से उसकी अमरावती छीन ली। उस दैत्य से पराजित सब देवगण गुफा व कंदराओं में जा छिपे। वर्षा बंद हो गई, नदी-तालाब सूख गये, जलचर जन्तु मरने लगे। भीषण अकाल पड़ गया। अन्य परेशानियों से त्रस्त ब्राह्मण भगवती जगदम्बा की आराधना करके उन्हें प्रसन्न करने लगे। उनकी स्तुति से भगवती प्रसन्न हो गयीं और दिव्य दर्शन दीं। उनकी सौ आँखें थीं, इसलिए उनका नाम शताक्षी पड़ा। अपने भक्तों के आर्तनाद को सुनकर तथा उनकी दशा देखकर भगवती की करुणा प्रकट हुई उनके नेत्रों से जलधारायें गिरने लगीं। इस जलधारा से लगातार नौ दिन व नौ रात तक वर्षा होती रही। इस जल को पाकर समस्त प्राणी प्रसन्न हुए तथा इसी दिन से नवरात्रि मनाया जाने लगा। दुर्गम दैत्य को मारने के कारण ही महादेवी का नाम दुर्गा पड़ा। इस दुर्गा नामक देवी-शक्ति का उद्भव सभी देवताओं के द्वारा थोड़ी-थोड़ी शक्ति संग्रहित कर हुआ था, जिनकी आठ भुजाएँ थीं। **आठ भुजाओं का अर्थ आठ प्रकार की शक्ति** – शरीर शक्ति, विद्या शक्ति, चातुर्य शक्ति, धन शक्ति, शस्त्र शक्ति, शौर्य शक्ति, मनोबल शक्ति तथा धर्म शक्ति है और वह संगठन शक्ति के साथ मिलकर नौवीं शक्ति अर्थात् नवदुर्गा कहलाईं। इसीलिये नवरात्रि के नव दिनों में प्रतिदिन अलग-अलग दुर्गा का विधिपूर्वक पूजन किया जाता है। इनके नाम हैं - शैलपुत्री,

ब्रह्मचारिणी, चंद्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी तथा सिद्धिदात्रि। ये दुर्गा भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये अलग-अलग रूप में प्रकट हुईं तथा हर बार अलग-अलग कई भुजायें लेकर प्रकट हुईं। जगदम्बा शाकम्भरी (शताक्षी) ने जब दुर्गम दैत्य को मारा, तब वह दुर्गा नाम से जानी जाने लगीं। दूसरी आदि दुर्गा अष्टभुजा वाली अनादि देवी हैं, जिनकी सतयुग में सभी देवताओं ने ब्रह्मा, विष्णु के साथ आराधना की थी। त्रेतायुग में दुर्गाजी की १०८ कमल-पुष्पों से श्रीरामजी ने पूजा कर लंका में आक्रमण किया था। द्वापर युग में भी अर्जुन ने कुरुक्षेत्र युद्ध से पूर्व आशीर्वाद लेने के लिये इन्हीं दुर्गाजी की पूजा की थी और इसी अष्टभुजी देवी की पूजा कलियुग में विभिन्न रूपों में हम सब करते आ रहे हैं।

दुर्गा उपासना - सनातन धर्म सबसे प्राचीन एवं पूर्ण गरिमावान है। भारतवर्ष ही नहीं, प्राचीन समस्त आर्यावर्त में सनातन धर्म ही फैला था, यही नहीं सनातन धर्म के आदि ग्रंथ वेद भी विश्व की सृष्टि के प्रथम ग्रंथ माने जाते हैं। सनातन धर्म में पंचदेवोपासना का प्रमुख प्रचलन था। अर्थात् आरम्भ काल से ५ प्रमुख उपास्य देवों की ही उपासना की जाती रही है – **आदित्यं, गणनाथश्च देवी रुद्रश्च केशवं। पंच देवत्वमित्युक्तं सर्वकर्मसु पूज्यते।।** अर्थात् - आदित्य (सूर्य), गणनाथ (श्रीगणेश), देवी (दुर्गा), रुद्र (शिव), केशव (विष्णु) इन पाँच देवताओं की पूजा सब कार्यों में की जाती थी। उपरोक्त पंचदेव अपने गुणधर्म के अनुसार साधकों को फल प्रदान करने में समर्थ थे। देवी दुर्गा ही गौरी, पार्वती, वैष्णवी, महाकाली, चंडी, महालक्ष्मी, महासरस्वती तथा अन्यान्य रूप-नामों में पूजित होती रहीं। रुद्र की रूद्राणी वही हैं। गणेश की माता वही हैं। इसलिये उनमें तीन देवों की शक्ति एक साथ जुड़ी रही। शिव, बिना शक्ति के शव है। गणेश बिना माँ की शक्ति के मात्र गण ही रह जाते हैं। अत: शक्ति ही सर्वोपरि रही है। सम्पूर्ण आर्यावर्त में पंच देवों की पूजा की प्रधानता भिन्न-भिन्न ढंग से होती रही और आज भी होती है। किन्तु दुर्गा देवी की पूजा सभी प्रान्तों में पूर्ण रूप से अवश्य होती है। वह शिव की नगरी काशी हो या कृष्ण की द्वारिकापुरी, अब सर्वत्र दुर्गा की, काली की, शक्ति की उपासना होने लगी है। क्योंकि इस युग में दुर्गा, काली और गणपति ही ऐसे देवता हैं, जो वांछित फल प्रदाता हैं। इसीलिये हमारे शास्त्रों में भी कलियुग के लिये पूज्य देवों के महत्त्व का वर्णन किया गया है — **कलौ चंडी-विनायकौ।**

इस कलिकाल में चंडी और विनायक ही पूजनीय एवं शीघ्र साधना-फल-प्रदाता हैं। क्योंकि युग बदल गया, समाज बदल गया, मानव बदल गया। जीवन का दर्शन बदल गया। आज समाज भौतिकता की चकाचौंध में स्वार्थी और भौतिकवादी होता जा रहा है। उसके लिये अर्थ-धर्म, काम-मोक्ष में निहित महत्त्व एवं रहस्य बदले प्रतीत होते हैं। भौतिकवादी लोगों के लिये अर्थ और काम से महत्त्वहीन धर्म हो गया और धर्म से भी महत्त्वहीन मोक्ष हो गया। इसीलिये व्यक्ति का, समाज का, देश का, सृष्टि का सम्पूर्ण जीवन दर्शन ही बदल गया, इसलिये उपासना और उपास्य देव भी बदल गये।

यह युग शक्ति का, विज्ञान का, भौतिकता का, प्रगति का, स्पर्धा का, अणु का, परमाणु का है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति शक्तिमान बनना चाहता है, प्रत्येक राष्ट्र शक्तिशाली बनने की होड़ में है। हर व्यक्ति सफलताओं की सीढ़ियाँ चढ़ते जाना चाहता है। परन्तु जब वह किसी सीढ़ी पर ठहर जाता है और उसकी अपनी शक्ति जवाब दे देती है, तब वह किसी अदृश्य शक्ति से पुन: शक्ति संचित करना चाहता है और वह शक्ति उसे मिलती है, उस महाशक्ति से जो समस्त सृष्टि को अपनी शक्ति से संचालित करती रहती है। वह शक्ति है महाशक्ति दुर्गा माँ की। दुर्गा ही विभिन्न रूप-नामों में कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और आसाम से लेकर पाकिस्तान (जो कभी भारत का अंश था) तक फैली हुई है। इतना ही नहीं, वही दुर्गा शक्ति समस्त विश्व में, समस्त सृष्टि में, समस्त ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है। इसलिये कहा गया है – **सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत्। अतोहं विश्वरूपां त्वां नमामि परमेश्वरीम्।।** अर्थात् - देवी सर्वरूपमयी हैं तथा यह सम्पूर्ण संसार देवीमय है। अतएव मैं उन विश्वरूपा परमेश्वरी को नमस्कार करता हूँ। यह संसार देवी के रूप से परिपूर्ण है। वही देवी इस संसार की निर्माणकर्तृ हैं। वही इस संसार का विनाश करती हैं, इसलिये वही समस्त देवताओं में श्रेष्ठ हैं, पूजनीया हैं, वंदनीया हैं और शक्तिसंपन्ना हैं। वह भुक्ति और मुक्ति दोनों का मार्ग प्रशस्त कर सकती हैं, क्योंकि वही पूर्णा हैं। हर व्यक्ति दुर्गा-उपासना में ही रत रहना चाहता है, ताकि वह अपने अभावों, अपूर्णताओं, दुखों को दूर कराकर सुखी हो सके। इससे तीन बातें स्पष्ट हो गयीं - पहली, दुर्गा-शक्ति ही आद्याशक्ति हैं, दूसरी, कलियुग में दुर्गा-शक्ति ही सर्वश्रेष्ठ एवं शीघ्र फलदायी हैं। तीसरी, वही तो पूर्णा हैं। इसलिये पूर्णा ही हम अपूर्णों को पूर्ण कर सकती हैं। ○○○

मैंने देखीं अद्भुत सेवाएँ

प्रेमप्रकाशी श्रीचन्दजी पंजवानी

आज हम कहीं-न-कहीं किसी संस्था, मन्दिर, आश्रम इत्यादि से जुड़कर अथवा व्यक्तिगत रूप से सेवा-कार्य करते हैं। अनेक लोगों से जब वार्तालाप होता है कि आप कोई सेवा-कार्य क्यों नहीं करते, तो उनका साधारणत: उत्तर यही होता कि सब लोग तो सेवा-कार्य में लगे हुए हैं, हमें कोई सेवा-कार्य की जिम्मेदारी नहीं दी गयी है, इत्यादि-इत्यादि। पर आज हम स्वयं अनुभव की हुई ऐसी कुछ सेवाओं के बारे में बताते हैं, जिससे सहज ही अनुमान लग जाएगा कि सेवा-कार्य करने की दृढ़ इच्छा हो, तो न किसी दिखावे-आडम्बर की, न किसी जिम्मेदारी-निर्वहन की और न ही किसी समूह संस्था इत्यादि से जुड़ने की आवश्यकता है, आवश्यकता है हृदय में सेवा-भाव जगाने की, इससे मार्ग स्वयमेव मिल जाता है, सेवा-क्षेत्र हमारी प्रतीक्षा कर रहा होता है।

१. लगभग १९७८-७९ ई. के अप्रैल (चैत्र) महीने की बात होगी। मैं अपने मित्रों के साथ जयपुर में अमरापुर आश्रम पर गुरु महाराजजी के चैत्र मेले में गया हुआ था। वहाँ हम बाहर से आये प्रेमी-भक्तों की सेवा में संलग्न थे। पाँच दिवसीय मेले में दिन में भोजन-भण्डारे की एवं रात्रि में चौकीदारी की सेवा किया करते थे। सबेरे-सबेरे एक माता आती और हम १०-१५ लड़कों को, जो रात में प्रहरी की सेवा करते थे, बड़े ही स्नेह-भाव से काजल (सुरमा) लगाकर जाती। अब बताइये, ये सेवा आयोजन-क्षेत्र में कहाँ लिखी हुई है? बस, उस माता का यह भाव कि बच्चे रातभर जगे हैं, सुरमें से इनकी आँखों को ठण्डक मिलेगी।

२. गर्मी की ऋतु में, हर शहर में कॉलोनी एवं बाजारों में सब्जी बेचनेवाले सबेरे भोर के समय से ही सब्जी-मण्डी पहुँचते हैं और ये अल्प आयवाले समूह से होते हैं। इनके घरों में प्राय: फ्रिज इत्यादि का अभाव ही रहता है। एक सहृदय सज्जन, जिनके घर में बड़ी फ्रिज है, रात्रि में अपने घर की फ्रिज में लगभग एक दर्जन से अधिक की संख्या में बड़ी पानी की बोतल (लगभग ढाई लीटर की) भरकर रखते और सबेरे ही ६ बजे उठकर उस सड़क पर पहुँच जाते, जहाँ से ये सब्जी के ठेलेवाले मजदूर सब्जी मण्डी से लौटते और उनको रोक-रोककर ठण्डा पानी पिलाते। उस वक्त जल पीनेवालों के चेहरे पर जो तृप्ति का भाव देखने को मिलता, वह अवर्णनीय है। है न अनुपम सेवा !

३. ग्रीष्म ऋतु में लगभग हर शहर-कस्बे में पशुओं को पानी पिलाने के लिए जगह-जगह धर्मात्मा लोग सड़क, गली के किनारे अथवा घर के बाहर बड़ा-सा बर्तन, जिसे पत्थर की अथवा सीमेंट की खुली टंकी कहा जाता है, रखते हैं। अब यहाँ देखिये घर के युवाओं की सोच – इन आँखों ने जो देखा कि एक घर का युवा अपने घर की बड़ी फ्रिज में बर्फ को बहुत अधिक मात्रा में दिन में दो बार जमाकर, प्रात: १० बजे से २ बजे के मध्य जाकर पशुओं के जल-भण्डारों में वह बर्फ डालकर आता। उसका यह कार्य इन आँखों ने स्वयं कई दिनों तक देखा, मैंने उससे पूछा, भाई ! तुम ऐसा क्यों करते हो? तो उसका बड़ा ही प्यारा उत्तर था, हम तो कहीं-न-कहीं से किसी प्रकार से ठण्डा पानी पी लेते हैं, लेकिन ये मूक पशु, क्या इनको गर्मी नहीं सताती, ऐसी भीषण गर्मी में इनका ये पानी देखो न कितना तप रहा है। अब इसके आगे क्या कहा जाय उस युवा के सेवा-कर्म को !

४. एक व्यक्ति जो कि अर्थाभाव से स्वयं लड़ रहा है, लेकिन स्वस्थ है। वह प्रतिदिन ग्वालियर के एक अस्पताल में सबेरे रोगियों की सेवा करता हुआ देखा जाता है और ऐसे जरूरतमन्द रोगियों की सेवा, जिनके अपने नहीं होते या जो परित्यक्त होते हैं, उनको उठाकर नित्य-क्रिया इत्यादि करवाने की जरूरत होती है अथवा और कोई सेवा, जिसमें पैसा नहीं लगता, वह तत्परता से करता हुआ दिखायी पड़ता है।

अब इन सेवाओं को किस श्रेणी में रखेंगे? न तो पैसे की जरूरत, न ही किसी संस्था से जुड़ने की और न ही यह कहने की कि मैं अकेला कैसे सेवा कर सकता हूँ। कहने का अभिप्राय कि मन में, हृदय में सेवा-भाव जगाएँगे तो ऐसी अनेकों सेवाएँ हमारी बाट जोह रही होंगी। दृढ़ संकल्पित होकर प्रभु परमात्मा की इस सृष्टि में किसी-न-किसी प्रकार सेवा-भक्ति से जुड़कर आत्मशान्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए। ○○○ (कल्याण से साभार)

सेवा में जीवन का सच्चा सुख

कृष्ण चन्द्र टवाणी

सेवा का सार है नि:स्वार्थता और उसके फल का त्याग। नि:स्वार्थ सेवा ईश्वरीय साधना का अन्तिम फल है। निष्काम कर्म की यही भावना है। नि:स्वार्थ सेवा मनोबल बढ़ाती है, पूर्वजन्म के पापों को सहज में धो देती है तथा जीवन को सच्चा सुख प्रदान करती है। निष्काम-सेवा का मूल आधार है, फल के बिना सबके प्रति सेवा-भाव। इस उच्च स्तर की आध्यात्मिक अनुभूति के बिना नि:स्वार्थ सेवा असम्भव है। वास्तव में परसेवा के समान दूसरा कोई सुख नहीं है। संत तुलसीदास जी ने मानस में लिखा है –

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

सेवा का क्षेत्र व्यापक है। सेवा व्यक्ति की हो या समाज की, देश की हो अथवा राष्ट्र की, सेवा सर्वतोभावेन सर्वत्र कल्याणकारी होती है। माता-पिता की सेवा के प्रति तो कहना ही क्या? पुत्र के लिये माता-पिता से बढ़कर कोई सेवा नहीं है। पुत्र यदि माता-पिता की सेवा छोड़कर तीर्थाटन, पूजा या देवताओं की सेवा करे, तो उसका कोई मूल्य नहीं है। इसका पौराणिक प्रमाण है – श्री गणेशजी द्वारा उमा-महेश का पूजन तथा परिक्रमा कर सब देवताओं में सर्वप्रथम पूजनीय होना। माता-पिता की सेवा पुत्र के लिए स्वर्ग है, आनन्द है। पुत्र को यदि माता-पिता का अन्तर्मन से आशीर्वाद प्राप्त हो जाय तो उसके जीवन में सदा आनन्द की लहरें प्रस्फुटित होती रहती हैं।

प्यासे को पानी देना, भूखे को भोजन देना, रुग्णों की चिकित्सा, शुश्रूषा, अनाथों को शरण देना, भटके बच्चों को घर पहुँचाना, निराश्रित महिलाओं को जीवन देना, विकलांगों को आत्मसम्मान से जीना सिखाना, वयोवृद्धों को जीवन की सन्ध्या में आत्मसन्तोष की बानगी देना, गौ-सेवा आदि सेवा के अनेक स्वरूप हैं। कुल मिलाकर जो अभावग्रस्त है, दीन है, दुखी है, उसे वह हर चीज पहुँचाने की भरसक कोशिश करना जो उसके जीने के लिये जरूरी है, सेवा की श्रेणी में रखी जा सकती है। पीड़ितों के प्रति अपनत्व एवं स्नेह सबसे बड़ी चीज है। स्वामी विवेकानन्द दरिद्रनारायण की सेवा को ही नारायण-सेवा मानते थे। संत नरसी मेहता उन्हें वैष्णव जन मानते थे, जो दूसरों की पीड़ा को जानें। दूसरे शब्दों में पीड़ित मानव की सेवा ही माधव सेवा है।

सभी पैगम्बर, औलिया, महापुरुषों, संतों तथा शास्त्रों ने एक स्वर में कहा है – दुखी मानव की सेवा, सहायता से बढ़कर इस जगत में ईश्वर की कोई आराधना नहीं, उपासना नहीं, उसी में सद्‌गति है, उसी में पुण्य और जो मानव इस बात को समझकर अपना जीवन मानव सेवा में लगा देता है तथा उसे ही प्रभु की सेवा समझता है, वही इस संसार में सच्चा सुख प्राप्त कर स्वर्ग में उच्च-स्थान प्राप्त करता है।

एक दन्त कथा है – एक व्यक्ति बैठकर कभी जप-साधना नहीं करता था, किन्तु कर्मयोगी था। दूसरों को सुख-सुविधा देता था तथा सेवापरायण था और मन से भगवान का स्मरण भी करता था। सौभाग्यवश एक दिन नारदजी से भेंट हो गयी, नारदजी से पूछा – महाराज! आप कहाँ से आये हैं, नारद जी ने कहा – स्वर्ग से आये हैं, उसने पूछा – महाराज ! मैं रात-दिन सेवा ही करता रहता हूँ, कभी बैठकर ईश्वर का ध्यान तो कर ही नहीं पाता हूँ। महाराज ! क्या मेरा भी कोई काम स्वर्ग जाने की स्थिति में है या नहीं? यदि हो तो मुझे लौटती बार देखकर बताते जाना।

जब नारदजी ने साधारण श्रेणी के व्यक्तियों के बही खातों में उसका नाम दिखवाया, तो उसका नाम कहीं भी अंकित नहीं था। नारदजी ने जब उच्च कोटि के खातों में देखा, तो उस भक्त कर्मयोगी का नाम सर्वप्रथम लिखा था। नारद जी भी बड़े प्रसन्न हुए और तुरन्त ही उस कर्मयोगी को समाचार दिया कि भाई ! तू बड़ा भाग्यशाली है, क्योंकि स्वर्ग में उच्चकोटि में तेरा नाम सबसे प्रथम श्रेणी में लिखा हुआ है।

रोगी की सेवा नारायण-सेवा है

निष्काम-भाव से ही की गयी रोगी, असहाय, निर्बल व्यक्ति की सेवा को ही नारायण-सेवा के समान महत्त्व दिया जाता है। इस सम्बन्ध में इब्राहिम के जीवन का निम्न प्रेरक प्रसंग हम सबके लिए भी अनुकरणीय है –

इब्राहिम एक बार एक काफिले के साथ सफर कर रहे थे। यात्रा के दौरान काफिले का एक आदमी बहुत बीमार

हो गया। इब्राहिम दिन-रात उसकी सेवा में जुट गये। रोगी के उपचार में उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी। जो कुछ उनके पास था, धीरे-धीरे इलाज में सब समाप्त हो गया, पर रोगी स्वस्थ न हो पाया। एक दिन वह बेहोश हो गया। इब्राहिम ने उससे पूछे बिना उसका खच्चर बेच दिया और प्राप्त रुपयों से रोगी के उपचार, आहार की व्यवस्था कर दी। कुछ समय बाद रोगी को होश आया तो इब्राहिम ने उसे सहारा देकर बिठाया, उसे जलपान करवाया और बातचीत करते हुए बता दिया कि उसका खच्चर बेच दिया है। यह सुनते ही रोगी को बहुत दु:ख हुआ। वह बोला – 'खच्चर के बिना अब मैं आगे का सफर कैसे करूँगा? मुझसे तो अब एक कदम भी नहीं चला जाएगा।'

यह सुनते ही इब्राहिम जोरो से हँस पड़े और बोले – 'खच्चर बिक गया तो क्या? अभी मैं तुम्हारे साथ हूँ, आज से तुम मेरे कन्धे पर बैठकर चलना' और इसके बाद काफिलेवाले यह देखकर दंग रह गये कि सेवाधर्मी इब्राहिम ने जब तक सफर पूरा नहीं हुआ, उस रोगी को अपने कन्धों पर बैठाकर ही यात्रा की। धन्य हैं ऐसे नि:स्वार्थ सेवा-भावनावाले मानव! किसी शायर ने कहा है –

जीना है उसका भला, जो औरों के लिये जिये।
मरना है उसका भला, जो अपने लिये जिये।।

सेवा ही सबसे बड़ी प्रार्थना है

दीनबन्धु एण्ड्र्यूज से मिलने हेतु एक ईसाई सज्जन उनके घर आये। बातचीत होने लगी। वार्ता कुछ लम्बी चली। अचानक घड़ी की तरफ देखा, तो ९ बजे चुके थे। रविवार का दिन था। श्री एण्ड्र्यूज बोले – 'क्षमा करें श्रीमान! प्रार्थना का समय हो गया है, मुझे गिरजाघर जाना है।' आगंतुक मित्र ने कहा – 'हाँ! मुझे भी प्रार्थना हेतु गिरजाघर ही जाना है। अच्छा है आपका साथ रहेगा।'

दीनबन्धु बोले – 'लेकिन आप जिस गिरजाघर में प्रार्थना हेतु जाते हैं, मैं वहाँ नहीं जा रहा हूँ।' मित्र ने कहा – 'कोई बात नहीं! आज मैं आपके साथ रहकर आपका गिरजाघर देखना चाहता हूँ, वहीं मैं भी प्रार्थना में शामिल हो जाऊँगा।' थोड़ी दूर चलने पर दीनबन्धु ने मुख्य मार्ग छोड़ दिया तथा कच्ची और तंग गलियों में से होते हुए कच्ची बस्ती के एक छोटे से मकान में प्रवेश किया। वहाँ चारपाई पर एक कृशकाय बालक लेटा हुआ था। एक बूढ़ा व्यक्ति उसे पंखे से हवा कर रहा था। उसके पहुँचते ही बूढ़ा खड़ा हो गया। श्री एण्ड्र्यूज ने उस बूढ़े के हाथ से पंखा ले लिया और बालक को हवा करने लगे। बड़े प्यार से उन्होंने बालक के सिर पर हाथ फेरा। बालक ने आँखें खोलकर उनकी तरफ कृतज्ञता भरे भाव से देखा। दोनों की आँखें चार होने पर बालक की आँखों में एक चमक-सी झलकी। इतने में बूढ़ा व्यक्ति कपड़े पहनकर बाहर जा चुका था।

श्रीदीनबन्धु का मित्र भौचक्का-सा देख रहा था, उस मकान में गिरजाघर को ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा था, प्रतीक्षा कर रहा था प्रार्थना के आरम्भ होने की। दीनबन्धु उनकी तरफ मुड़कर बोले – 'माफ कीजिए महाशय! यही मेरा गिरजाघर है, यह सेवा ही मेरी प्रार्थना है। यह बालक तपेदिक (टी.बी.) से पीड़ित है। इस वृद्ध का इससे कोई रिश्ता-नाता नहीं है। यह इसकी सेवा-शुश्रूषा करता है, दवा देता है, जल्दी स्वस्थ होने हेतु उसे अच्छा खाना देता है। इसे १० बजे से २ बजे तक अपने काम पर जाना पड़ता है। इतनी देर तक इस बालक की सेवा का दायित्व मैंने ले रखा है।' मेरे लिए यही ईश्वर की प्रार्थना है।

मूक सेवा ही सच्ची सेवा है

बिना किसी प्रशंसा की इच्छा के मूक सेवा करने वाले सेवाभावी व्यक्ति आज बहुत कम मिलते हैं। आज सेवा आडम्बर-दिखावे के लिये की जाती है। सेवा की ओट में स्वार्थ-भावना छिपी होती है। मूक सेवाभावी व्यक्ति के बारे में एक सच्ची घटना का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है – हम पहली बार किसी नगर में घूमने के लिये गये थे। हमारे साथ एक गाइड था। रास्ते में हम लोगों को प्यास लगी। गाइड हमें एक प्याऊ पर ले गया। वहाँ साधारण कपड़े पहने एक वृद्ध सज्जन पानी पिला रहे थे। वहाँ रखे हुए मटके में हम सबके लिए पानी कम था। अत: वे कुँए से पानी भरने लगे। हम लोग एक-दूसरे को पानी पिलाने लगे। पानी पीकर गाइड के पीछे-पीछे सब लोग चल दिये। मैं सबसे पीछे था। मेरे मन में विचार आया कि उस सज्जन को कुछ धन देना चाहिए। मैंने जेब से पाँच रुपये निकाले और उन्हें दिये। उन्होंने हाथ जोड़ लिये और रुपये लेने से मना कर दिया। यह सोचकर कि यह उन्हें कम लगा रहा होगा, मैंने दुबारा हाथ डाला। वह सज्जन मेरे पैर छूने लगे और कुछ न देने की प्रार्थना करने लगे। मैं उन्हें देखता रह गया।

गाइड एक कोल्ड स्टोरेज के सामने रुक गया। कोल्ड स्टोरेज एक बहुत बड़ी फैक्ट्री की तरह दिखायी पड़ रहा था। हम लोग भी रुक गये। मैंने गाइड से पूछा – 'क्या हम यह कोल्ड स्टोरेज देखने के लिए रुके हैं? कोल्ड स्टोरेज को क्या देखना?' गाइड ने उत्तर दिया – 'प्याऊ पर जो सज्जन आपको पानी पिला रहे थे, वे ही इस कोल्ड स्टोरेज के मालिक हैं। वे करोड़पति हैं। उन्हें सेवा करने की धुन लगी है। दिनभर वे प्याऊ पर पानी पिलाते हैं और शाम को यहाँ के मन्दिरों में बारी-बारी जाकर भक्तों एवं दर्शनार्थियों के जूतों की रखवाली करते हैं। हर रविवार को एक नर्सिंग होम में जाकर वहाँ के शौचालयों की सफाई करते हैं।'

यह सुनकर मुझे लगा कि उन्हें पाँच रुपये देने की कोशिश करके मैंने उनके प्रति अपराध किया है। अनजाने में हुआ यह अपराध मुझे घोर मानसिक पीड़ा देने लगा। नगर में घूमने के बाद हम अपने होटल में आ गये। मैं तुरन्त ही उस प्याऊ की ओर चल दिया। शाम होने वाली थी। मुझे भय था कि कहीं वे सज्जन किसी मन्दिर न चले गये हों। सड़क सूनी थी। मैं तेज गति से चलने लगा। यह देखकर थोड़ी-सी तसल्ली हुई कि वे सज्जन प्याऊ के पास पड़ी एक चारपाई पर बैठे थे और अपने हाथ से पंखा झल रहे थे। मैं उनके पैरे पर झुक गया। न चाहते हुए भी आँखों में आँसू आ गये। उन्होंने चौंककर पूछा – 'बेटा ! क्या बात है?' मैंने कहा – 'मुझसे आपके प्रति अपराध हो गया है। आपको धन देने का प्रयास करके मैंने आपकी सेवा-भावना का अपमान किया है। मुझे क्षमा कर दें।' उन्होंने मुझे गले से लगा लिया, बोले कुछ भी नहीं।

उपर्युक्त प्रसंग से हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि सेवा का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। एक कोल्ड स्टोरेज के मालिक होते हुए भी बिना किसी प्रदर्शन एवं घमण्ड के प्यासों को पानी पिलाने का कार्य कितनी अनुपम निष्काम-सेवा है। काश ! हम भी इससे प्रेरणा लेकर नि:स्वार्थ सेवाभाव को अपनाकर जीवन में सच्चे सुख की प्राप्ति कर सकते ! ○○○
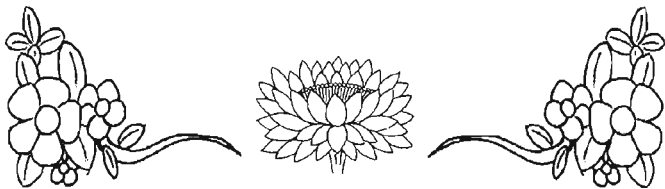
विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

अनुवादक - स्वामी विदेहात्मानन्द

अतस्तौ मायया क्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न चात्मनि ।
निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने ।
अद्वितीये परे तत्त्वे व्योमवत्कल्पना कुत:।।५७३।।

अन्वय – अत: तौ बन्धमोक्षौ मायया क्लृप्तौ च आत्मनि न। निष्कले, निष्क्रिये, शान्ते, निरवद्ये, निरञ्जने, अद्वितीये, व्योमवत् परे तत्त्वे कल्पना कुत:?

अर्थ – अत: बन्धन तथा मोक्ष – ये दोनों माया द्वारा कल्पित हैं, आत्मा में कदापि नहीं रहते। निष्कल (निरवयव या पूर्ण), निष्क्रिय, शान्त, निर्मल, निरंजन, अद्वितीय, आकाश के समान परम ब्रह्म में (बन्धन या मोक्ष की) कल्पना भला कहाँ से हो सकती है?

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक: ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।५७४।।

अन्वय – उत्पत्ति: न च निरोध: न बन्ध: न च, साधक: न, मुमुक्षु: न, मुक्त: न वै इति एषा परमार्थता।

अर्थ – किसी की उत्पत्ति नहीं होती और न विनाश होता है, न कोई बद्ध है और न कोई साधक है, न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त है – यही परम सत्य है।

सकलनिगमचूडास्वान्तसिद्धान्तरूपं
परमिदमतिगुह्यं दर्शितं ते मयाद्य ।
अपगतकलिदोषं कामनिर्मुक्तबुद्धिं
स्वसुतवदसकृत्वां भावयित्वा मुमुक्षुम् ।।५७५।।

अन्वय – अपगत-कलिदोषं काम-निर्मुक्त-बुद्धिं मुमुक्षुम् भावयित्वा त्वां स्वसुतवत् इदं परं अतिगुह्यं सकल-निगम-चूडा-स्वान्त-सिद्धान्त-रूपं असकृत् अद्य मया ते दर्शितम्।

अर्थ – तुम्हें दम्भ, लोभ आदि कलियुग के दोषों से मुक्त, निष्काम चित्तवाला तथा मोक्ष का इच्छुक जानकर, मैंने अपने पुत्र के समान तुम्हारे समक्ष आज इस श्रेष्ठ परम गोपनीय समस्त वेदों के शीर्ष-स्थानीय उपनिषदों के सारभूत सिद्धान्त-रूप परब्रह्म तत्त्व को बारम्बार प्रकट किया।

इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं प्रश्रयेण कृतानति: ।
स तेन समनुज्ञातो ययौ निर्मुक्तबन्धन: ।।५७६।।

अन्वय – इति गुरो: वाक्यं श्रुत्वा स: प्रश्रयेण कृतानति:, तेन समनुज्ञात: निर्मुक्तबन्धन: ययौ।

अर्थ – गुरुदेव की ये बातें सुनकर भव-बन्धन से मुक्त वह शिष्य परम भक्तिपूर्वक उनके चरणों में प्रणत हुआ और उनकी सम्यक् आज्ञा पाकर विदा हुआ।

सेवा करो नर सारे जग की

जगदीश चन्द्रजी मेहता

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इसका प्रथम धर्म सेवा है। आपसी व्यवहार, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, सम्मान, करुणा, दया, दान, सहनशीलता आदि विभिन्न गुणों द्वारा एक-दूसरे के दुख दूर कर सुख-शान्ति देना ही सेवा है, परोपकार है, सहयोग है। मनुष्य-जन्म सेवा के लिए ही मिला है। सेवाधर्म द्वारा भगवत्प्राप्ति हो सकती है। विश्व के सभी धर्मों में सेवा धर्म को प्रमुखता दी गयी है। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' – परमात्मा कण-कण में व्याप्त है। हम ईश्वर के अंश हैं। विश्व के सभी प्रकार के क्षेत्रों में पग-पग पर सेवाधर्म का कार्य निहित है। सेवा नैसर्गिक मानव-वृत्ति है। सेवा से पवित्र विचार और शान्ति मिलती है। कहावत प्रसिद्ध है – सेवा करो, मेवा पाओ। प्राणिमात्र की सेवा धर्म है। सेवा पूजा है। सेवा कर्म है। परमात्मा ने बड़ी असीम कृपा करके मानव को जन्म के साथ ही कर्मयोनि दी है, शेष सभी जीव भोगयोनि के हैं। मनुष्य सेवा द्वारा अपना, परिवार, समाज, देश और विश्व का कल्याण कर सकता है। सेवा के बारे में रहीम कवि ने लिखा है –

ज्यों रहीम सुख होत है उपकारी संग।
बाँटनवारे को लगे ज्यों मेंहदी को रंग।।

भाव है यह कि दूसरे को मेंहदी लगाने वाले के हाथ में मेंहदी का रंग स्वत: लग जाता है। स्वहित से हटकर परहित ही सुख, शान्ति, आनन्द का घर है।

सेवा-साधना – धन, सम्पत्ति, शारीरिक सुख, मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि को न चाहते हुए, ममता आसक्ति और अंहकार से रहित होकर मन, वाणी, शरीर और धन के द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत होकर उन्हें सुख पहुँचाने की चेष्टा करना सेवा साधन कहलाता है।

श्रीरामचरितमानस में सेवा-दर्शन सन्तों के लक्षणों में आया है – **'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर',** भाव है, सबमें सर्वत्र, सब समय, उसकी भावना के अनुकूल बनकर सेवा करना ही सच्ची सेवा है। इसमें न धन, न बल, न बुद्धि, और न योग्यता ही चाहिए। जहाँ अपने मन में दूसरों के हित का दर्द हो, वहीं सच्ची सेवा होती है। आत्मदर्शी, आत्मज्ञानी में स्वार्थ-लिप्सा नहीं होती है। केवल सच्ची सेवा करने का धर्म ही होता है।

श्री गीता का सेवादर्शन – 'परस्परं भावयन्त:', 'सर्वभूतहिते रता:' अर्थात् हम सब आपस में प्रेम से रहें और एक-दूसरे का हित करते रहें। सब के कल्याण में ही हमारा सबका कल्याण निहित है। सेवा कभी भी व्यर्थ नहीं जाती है। असली सेवाभाव से मन के क्लेश, विकार, असुर वृत्तियाँ, नकारात्मक ऊर्जा नष्ट हो जाती है। वज्र और कठोर हृदय भी द्रवीभूत होकर सकारात्मक ऊर्जा पाकर मित्र बन जाता है।

सेवा के विभिन्न क्षेत्र और अंग – प्यासे को पानी, भूखे को रोटी, बीमार को औषधि, निरक्षरों को पढ़ाना, औषधालय खोलना, विद्यालय खोलना, रक्तदान करना, माता-पिता और गुरुजनों की सेवा, देश-रक्षार्थ और परहित के कार्य, प्याऊ, धर्मशाला, अपंग-निर्धनों एवं विधवाओं की मदद, सत्साहित्य का प्रचार-प्रसार, अकाल, भूकम्प आदि के समय सेवा करना इत्यादि सेवा के विभिन्न क्षेत्र हैं।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के सेवा सम्बन्धी विचार – महात्मा, सन्त, उपदेश, वृक्ष, नदी, पर्वत, जल, हवा, गौमाता आदि की क्रियाएँ परहित की होती हैं, जिसके कारण ही हम जीवित हैं। फल की सेवा मूल्यवान है, पुष्प की सेवा मधुर है, परन्तु विनीत भक्ति भाव से छाया करने वाली पत्तियों की सेवा के सदृश सेवा समाज और देश-हित में हो। प्रतिदिन गाय को रोटी खिलाओगे, तो वह अपनी श्वास-प्रश्वास की क्रिया से आपको आशीर्वाद देती है। कुत्ते को रोटी खिलाने पर वह पूँछ हिलाकर अभिवादन करता है। तुलसी के पौधों को जल देने से वे शुद्ध वायु की सुगन्ध हिलोर देते हैं। सेवा के बदले मेवा मिलता ही है। गाय, कुत्ता आदि मित्रवत् व्यवहार करते हैं। सेवाभावी मनुष्य इन सभी क्रियाओं का अनुभव कर सकता है।

भारतवर्ष की सनातन संस्कृति की देन परमार्थ सेवा ही रही है। यहाँ सेवा के कतिपय प्रसंग प्रस्तुत हैं –

१. भगवान् श्रीकृष्ण का लोकसेवा-भाव – जरासन्ध-वध और दिग्विजय के बाद धर्मराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। इस महान यज्ञ में सभी सम्बन्धियों और मित्रों ने भिन्न-भिन्न दायित्व सँभाले। कर्ण को दान करने, दुर्योधन को उपहार लेने और भीमसेन को

भोजनशाला का कार्य सौंपा गया। भगवान् श्रीकृष्ण ने यज्ञ के कार्य से आये ब्राह्मणों के चरण धोने का कार्य स्वयं चुन लिया। वे बड़ी श्रद्धा से ब्राह्मणों के चरण धोते थे।

२.जटायु का परहित सेवा-भाव – सीता-हरण के बाद रावण से भयंकर युद्ध करते हुए जटायु घायल और रक्तरंजित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा था। वह भगवान् श्रीराम का स्मरण करता रहा। दैवयोग से सीता की खोज करते हुए श्रीराम-लक्ष्मण उसी वन की ओर जा रहे थे। वहाँ उन्होंने करुणाभरी ध्वनि सुनी। वे उधर गये। जटायु को देखा। जटायु ने भगवान् को देखा और कहा कि सीतामाता को दुष्ट रावण ले जा रहा था, मैंने माता को छुड़ाने के लिए भीषण युद्ध किया। मेरी ऐसी स्थिति बनाकर वह माता को ले गया है। मैं आपके दर्शन कर कृतार्थ हो गया हूँ। श्रीराम ने गद्‌गद वाणी से कहा – जटायु !

परहित बस जिन्ह के मन माहीं।
तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।।
तनु तजि तात जाहु मम धामा।
देऊँ काह तुम्ह पूरनकामा।।'

(मानस ३/३१/९-१०)

अर्थात् जिनके मन में दूसरे का हित, सेवा, परोपकार, रक्षाभाव है , परमार्थ समाया रहता है, उनके लिये जगत में कुछ भी (कोई भी गति) दुर्लभ नहीं है। हे तात ! शरीर छोड़कर आप मेरे परमधाम में जाइये। मैं आपको क्या दूँ? आप तो पूर्णकाम हैं, सब कुछ पा चुके हैं।

भगवान जटायु के माध्यम से जन-जन को सुमार्ग की शिक्षा देते हैं –

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।
निर्नय सकल पुरान बेद कर।
कहेऊँ तात जानहिं कोबिद नर।।
नर सरीर धरि जे पर पीरा।
करहिं ते सहहिं महा भव भीरा।।
करहिं मोह बस नर अघ नाना।
स्वारथ रत परलोक नसाना।।

(रा.च.मा. ७/४१/१-२)

अथात हे भाई ! दूसरों की भलाई के समान कोई धर्म नहीं है और दूसरों को दुख पहुँचाने के समान कोई नीचता, पाप नहीं है। हे तात ! समस्त पुराणों और वेदों का निर्णय (निश्चित सिद्धान्त) मैंने तुमसे कहा है। इस बात को पण्डित लोग जानते हैं।

मनुष्य शरीर धारण करके जो लोग दूसरों को दुख पहुँचाते हैं, उनको जन्म-मृत्यु के महान संकट सहने पड़ते हैं। मनुष्य मोहवश स्वार्थपरायण होकर अनेक पाप करते हैं, इसीसे उनका परलोक नष्ट हुआ रहता है। ईश्वर ने मनुष्य को कर्मयोनि दी है और विवेक-बुद्धि प्रदान की है, ताकि वह अपनी और दूसरों की सेवा, परोपकार, मदद, सहयोग, परमार्थ का सम्पादन कर सके। अतएव मानव-शरीर प्राप्त कर सबका हित-साधन और हित-चिन्तन करना धर्म है। भगवान ने जटायु का स्वयं अग्निसंस्कार कर उसे मोक्ष प्रदान किया। यह भी सेवा का एक तरीका है – निष्काम भाव से दूसरे के रक्षार्थ अपनी जान की बाजी लगा देना।

३. श्रवण कुमार का माता-पिता के प्रति सेवाभाव – श्रवण कुमार के माता-पिता बूढ़े और अन्धे थे। बचपन से ही श्रवण कुमार उनकी रात-दिन तन-मन धन से बहुत सेवा करता था। उनके लिये रोटी पकाना, पानी लाना, नहलाना, धुलाना आदि। एक दिन उसके माता-पिता ने तीर्थयात्रा की इच्छा व्यक्त की। आज्ञाकारी बेटे श्रवण ने एक काँवर (बहँगी) बनायी। उसके एक ओर माता को दूसरी ओर पिता को बैठाया। फिर काँवर कन्धे पर रखकर मन्दिर-मन्दिर तीर्थयात्रा के लिये निकला। उन दिनों आज-जैसी सुविधा और साधन नहीं थे। जंगल में रात्रि-विश्राम किया। रास्ते में माता-पिता को प्यास लगी। प्यास बुझाना सेवा-धर्म है। वह पास की नदी से पानी लेने गया। उसी वन में राजा दशरथ भी शिकार करने आये थे। श्रवण ने नदी में घड़े को डुबाया, तो सुनसान जंगल में गड़-गड़ की आवाज सुनकर दशरथ ने जंगली जानवर जानकर शब्दभेदी बाण चलाया। बाण श्रवणकुमार को लगा। राजा उधर गये तो श्रवण को देखकर बड़ा दुख हुआ। यह मैंने क्या किया? श्रवण ने घायल-अवस्था में कहा कि आप मेरे प्यासे माता-पिता को पानी पिला देना, इतना कहकर उसकी मृत्यु हो गयी। यह भी एक प्रकार की सेवा थी। श्रवणकुमार माता-पिता की सेवा के आदर्श हैं।

४. श्री हनुमानजी की दास्य सेवा – दास्य-भाव का अर्थ है – अपने आराध्य के प्रति पूर्णनिष्ठा और आस्था के साथ समर्पित होकर चरण-सेवा करना। किसी भी प्रकार अपने मनोराज्य की महत्ता दास्य-भक्ति सेवा में नहीं रहती है। हनुमानजी शक्तिसम्पन्न, विद्यानुरागी, संगीताचार्य, चतुरशिरोमणि एवं अनेकानेक गुणों से सम्पन्न थे। हनुमानजी सप्तचिरंजीवियों में से एक हैं। अपने चिन्तन, विचार, कार्य, सभी को वे रामकृपा का ही फल मानते हैं। समुद्र लाँघ गये तो श्रीरामकृपा, पर्वत उठा लाये तो श्रीरामकृपा, लंका जला दी तो श्रीरामकृपा, प्रत्येक सफलता को उन्होंने प्रभु श्रीराम की चरण सेवा का प्रताप ही माना है। हनुमान जी कहते हैं कि मेरी क्या क्षमता, क्या शक्ति कि मैं कुछ कर सकूँ ! हनुमान जी प्रभुचरणों की दास्य-भक्ति सेवा के एक पावन आदर्श हैं। भगवान श्रीराम ने उनकी सेवा-भक्ति से अपने को ऋणमुक्त नहीं माना। यह हनुमानजी की सेवाभक्ति का ही प्रताप है।

५. सुभाषचन्द्र बोस की देश-सेवा – सुभाष-चन्द्र बोस एक प्रतिभावान, योग्य और परिश्रमी छात्र थे। उनका जन्म सन् १८९७ ई. में कटक (उड़ीसा) में एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। उन दिनों भारतवर्ष अँगरेजी साम्राज्य का गुलाम था। विद्यार्थी जीवन में एक अँगरेज अध्यापक ने उन्हें अपशब्द के साथ देशवासियों के लिए भी अपमानजनक शब्द कहा। स्वाभिमानी राष्ट्रप्रेमी बालक सुभाष इस अपमान को सहन न कर सके। उन्होंने ईंट का जवाब पत्थर से देकर कॉलेज छोड़कर देश को स्वतन्त्र कराने का संकल्प ले लिया। उन्होंने देशवासियों में देशप्रेम, राष्ट्र-बलिदान की भावना भरी और 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा' का मन्त्र दिया। उन्होंने 'जयहिन्द' का घोष कर देशप्रेम जगाकर अत्याचारों का विरोध तन-मन-धन से किया। अँगरेजी सरकार इस क्रान्तिकारी देशभक्त से डर गयी। उन्हें साम्राज्य के लिए खतरा मानकर जेल में डाल दिया। वहाँ से साधु का वेश बनाकर वे जेल से भाग निकले। भारत से बाहर जाकर उन्होंने २१ अक्टूबर, १९४३ ई. को 'आजाद हिन्द फौज' का संगठन बनाया। फिर अँगरेजों से संघर्ष किया। द्वितीय विश्वयुद्ध और भारत के क्रान्तिकारी विरोध, संघर्ष के कारण अँगरेजी सरकार घबरा गयी। जिसका परिणाम १५ अगस्त सन् १९४७ ई. को भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा हुई। इसके पूर्व ही राष्ट्रभक्त, राष्ट्रसेवक, देशवासियों के प्रेमी सुभाषचन्द्र बोस सन् १९४५ ई. में वायुयान-दुर्घटना में शहीद हो गये। सुभाष बाबू सेवा करते हुए जिए और देशसेवा करते हुए शहीद हो गए। राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रसेवा के अद्वितीय उदाहरण रूप में यह भी सेवा का एक स्वरूप है।

इस प्रकार लोकसेवा, परहित सेवा, माता-पिता की सेवा, दास्य-सेवा, देशसेवा आदि विभिन्न प्रकार की सेवाओं को अपना कर हम सुयोग्य नागरिक बनकर परिवार, समाज और विश्व की सेवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से कर सकते हैं। इसके लिए सेवा-धर्म के मूलमन्त्र – 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत।।' – को जीवन में अपना लेना चाहिये।

वस्तुतः इस कल्याणमय मंगलमय उदात्त भाव को अपने जीवन में उतारना, अपनाना, ग्रहण करना भगवान की सच्ची सेवा है। ○○○ (कल्याण से साभार)

(४७६ का शेष भाग)

नरेन ! कहाँ मैं सोचता था कि तू एक विशाल वटवृक्ष के समान होगा, जिसकी छाँह तले लाखों थके-माँदे लोग विश्राम ग्रहण करेंगे और कहाँ देखता हूँ, तू अपनी मुक्ति के लिए कातर हो रहा है। अरे बेटा ! अपनी मुक्ति की चेष्टा से भी उच्चतर अवस्था है।" बाद में श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ को समझा दिया था कि जीव में शिव को देखकर, नर में नारायण को देखकर उस शिव या नारायण की सेवा अपनी मुक्ति के प्रयास से भी बढ़कर है।

तभी तो नेरन्द्रनाथ ने स्वामी विवेकानन्द बनकर अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण परमहंस के उपदेशानुसार 'दरिद्रनारायण' की सेवा का प्रवर्तन किया। देश के युवकों का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा था, "तुम्हें अभी तक पढ़ाया जाता था, **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव।** मैं कहता हूँ, **मूर्खदेवो भव, दरिद्रदेवो भव, रोगीदेवो भव।**"

सभी प्राणियों के साथ तादात्मय बोध, वह एकत्वानुभूति थी, जो सेवामूर्ति श्रीरामकृष्ण परमहंस के अपूर्व सेवामय जीवन का अटूट प्रेरणा-स्रोत थी। ○

एक भारतीय संन्यासी का चीन में परिव्रजन

स्वामी दुर्गानन्द
कुलसचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ

(गतांक से आगे)

इस तरह ताओ केवल परम सत्य अथवा तत्त्व ही नहीं अपितु एक 'जीने का मार्ग' भी है। ताओ को ग्रीक दर्शनशास्त्र में लोगोस् अथवा भारतीय दर्शनशास्त्र के ऋतम् शब्द के समान भी कहा जा सकता है। ऋतम् किस प्रकार एक जीवनशैली हो सकता है, इसका सुन्दर वर्णन अंग्रेजी पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' के मई से सितम्बर १९८३ के सम्पादकीय में जिस तरह किया है, वैसा शायद ही कहीं और मिलेगा। इसका कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं – वेदों में यज्ञ की संकल्पना को विश्व के रंगमंच पर सहयोग कहा जा सकता है... हमें चाहिए कि हम अपनी दृढ़ निष्ठा बनाए रखें और अपना पूर्ण जीवन समष्टि प्राणशक्ति को समर्पित भावपूर्वक यज्ञ में परिवर्तित कर दें। हम केवल इच्छा मात्र कर सकते हैं, किन्तु कार्य की सम्पन्नता ईश्वर के द्वारा होती है। विकास की क्रिया व्यष्टिपरक नहीं होती, समष्टिपरक होती है। आध्यात्मिक उन्नति के लिए समस्त शक्तियाँ समष्टि जीवनी-शक्ति से प्राप्त होती हैं। यज्ञ के प्रति जब हम स्वयं को पूर्णतया समर्पित कर देते हैं, तब यह हममें आवश्यक परिवर्तन लाता है और हमारे विकास की गति को समृद्ध करता है। आध्यात्मिक उन्नति के लिए जिस ईंधन की आवश्यकता है, वह समष्टि प्राण में विद्यमान है, हमें केवल यज्ञवेदी रूप आधार की आवश्यकता है, जिस पर होम किया जा सके।'

ताओ ते चिंग के अनुसार ताओ जिसे एक 'मार्ग' कहा जाता है, यह wu-wei (अर्थात, व्यष्टि इच्छा को समष्टि इच्छा के साथ एकीभूत करना); ziran (अर्थात, स्वभाव, आत्मसमर्पण, स्वत:स्फूर्तता); pu (अर्थात, मूलावस्था में प्रत्यावर्तन); sanbao (तीन गुण – करुणा, संयम और विनम्रता), इन आदर्शों का समाहार है।

आरम्भ में ताओ एक दर्शन मात्र था, यह लाओ-त्से के ताओ ते चिंग और जुआंगजी Zuangzi (4th BC) के इसी नाम के धार्मिक नामक ग्रन्थ पर आधारित था। केवल ईसा पूर्व दूसरी सदी में Zhang Daoling द्वारा Way of Celestial Masters की स्थापना के बाद यह एक संस्थागत धर्म में परिवर्तित हुआ। इसके बाद इसमें कर्मकाण्ड, रसायन-विद्या, झाड़-फूक, इन्द्रजाल, ओझागिरी, पौराणिक कथा इत्यादि का प्रचलन हुआ।

लाओ-त्से के पवित्र गूढ़ दर्शन का कीमियागिरी, जादू-टोना, ज्योतिषादि में किस तरह प्रचलन हुआ, यह एक अलग कहानी है और इसके लिए पृथक स्पष्टीकरण की आवश्यकता होगी। इतना कहना ही पर्याप्त है कि वर्तमान ताओ धर्म में अतीन्द्रिय तत्त्व के अलावा ज्योतिष, कीमियागिरी (दीर्घायु के लिए), शास्त्राध्ययन और कर्मकाण्ड का ही आधिक्य है। ताओ धर्म में दीक्षित तथा अनुयायी दोनों होते हैं। दीक्षित व्यक्तियों में विवाहित पुरोहित Zhengyi अथवा संन्यासी Quanzhen दोनों प्रकार के होते हैं। इसमें संन्यासी शाकाहारी होते हैं और मठ में रहते हैं। वर्तमान ताओ धर्म में कुछ संन्यासिनियाँ भी हैं। विवाहित ताओ-पुरोहितगण घरों में पूजा-अनुष्ठानादि करते हैं। ताओ मतावलम्बी अधिकांश समय रक्षाकवच (इसे फू कहते हैं और यह दुकानों पर प्राप्त होते हैं) का शोधन कर उसका विक्रय करते हैं।

इसके अनन्तर हम कुछ ताओ तीर्थ-स्थानों को देखेंगे जहाँ लेखक ने भेंट की थी।

माओशान पर्वत – नान्जिग के समीप स्थित यह पर्वत ईसा पूर्व १५३ वर्षों से ताओ धर्म का आश्रय स्थान रहा है। पचास वर्ग कि.मी. फैले इस पर्वतीय विस्तार में अनेक मन्दिर और मठ हैं। मुख्य मन्दिर चोंगशु में ताओ के विशुद्ध प्राकट्य के रूप में विद्यमान 'त्रिदेव' की मूर्तियाँ हैं, जिन्हें सभी चेतन प्राणियों के उद्गम के रूप में पूजा जाता है। इस पर्वत पर ताओ धर्म का Shangqing नामक सम्प्रदाय भी है। यह सम्प्रदाय कीमियागिरी, रक्षाकवच के स्थान पर ध्यान सम्बन्धी क्रियाओं को अधिक मानता है। किन्तु काल के प्रभाव से धीरे-धीरे इस सम्प्रदाय में भी रक्षाकवच और कर्मकाण्ड की प्रधानता हो गई है। पुरोहित द्वारा भविष्यवाणी करना, ताबीज बनाना इत्यादि कार्य इन सब स्थानों पर देखे जाते हैं। इसी पर्वत की एक चोटी पर Taoist square of Primordial Talisman नामक स्थान है, जहाँ पर लाओत्से की प्रसिद्ध ३३ फीट ऊँची कांस्य

निर्मित और स्वर्ण-मण्डित मूर्ति विद्यमान है।

लाओशान पर्वत – लाओशान पर्वत पूर्व चीन समुद्र के किनारे Qingdao के निकट अवस्थित है। यहीं पर Quanzhen Taoism (ताओ धर्म की संन्यास शाखा) का विकास हुआ। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान फॅक्सियन (Faxian) भारत से आने के बाद यहाँ पर रुके थे। ग्रेनाइट पत्थर से बनी हुई पूरी पर्वतमाला का सौन्दर्यीकरण किया गया है और इसे मनोरम दृश्य और आकर्षक पर्यटन स्थान के रूप में विकसित किया है। ऊपर पर्वत पर जाने के लिए केबल कार की भी सुविधा है। नक्काशी किए हुए पत्थर-निर्मित रास्ते और रेलिंग, रास्ते के ऊपर खुदे हुए कमल, हरियाली, चट्टानें, बड़े शिलाखण्ड, समुद्र का लुभावना दृश्य, सचमुच में यह स्थान देखने लायक है।

किंवदन्ती है कि यह पर्वत उन जादुई औषधियों के लिए प्रसिद्ध था, जो व्यक्ति के सभी रोगों को ठीक कर उसे अमर बना देती थीं। ऐसा माना जाता है कि सम्राट Qin Shi Huang (259-210 BC) और Wu of Han (156-87 BC), इन औषधियों की खोज में इस पर्वत पर चढ़े थे। परवर्तीकाल में आठवीं सदी के तेंग वंश के सम्राट Xuanzong ने अपने राजदूतों को इस पर्वत पर अपने लिए जीवनदायी अमृत तैयार करने के लिए भेजा था।

यहाँ पर प्रसिद्ध ताओ मन्दिर Taiqing Gong (Temple of Supreme Purity) में त्रिदेव की पूजा की जाती है। इसके अलावा यहाँ अन्य ताओ मन्दिर और कुछ बौद्ध मूर्ति-विग्रह भी विद्यमान हैं, यहाँ प्राय: कोई भी संन्यासी नहीं है।

झेंग गुओलाओ मठ – यह मठ समुद्री सतह से २००० मी. की ऊँचाई पर दतोंग (बीजिंग से ३५० कि.मी पश्चिम पर) के निकट हेंग पर्वत पर स्थित है। मठ और उसके मन्दिर पर्वतीय भूखण्ड की सीधी ढलान पर स्थित हैं। कुछ इमारतें खड़ी चट्टानों के पार्श्व भाग पर बनाई गई हैं। काले कपड़े पहने हुए कुछ ताओ पुरोहितगण यहाँ दिखाई देते हैं। इस मठ के देवता हैं – Gaundi (जिनका प्रेतात्माओं पर अत्यधिक नियन्त्रण है), Wenchang (संस्कृति और साहित्य के पौराणिक ताओ देवता), Fu Lu Shou (चीनी धार्मिक परम्परा के क्रमश: भाग्य, समृद्धि और दीर्घायु के देवता)। यहाँ एक

Huixian नाम की गुफा है, जहाँ प्राचीन काल में पौराणिक परियाँ कीमियागिरी का अभ्यास करती थीं।

हेंगिंग मठ – दतोंग शहर से ८० कि.मी की दूरी पर यह १५०० वर्ष पुराना मठ है। यह भूमि-सतह से ७५ मी. ऊपर मात्र एक खड़ी चट्टान पर अनिश्चितता पूर्वक खड़ा है। भवन का सम्पूर्ण भाग खड़ी चट्टान के मध्य भाग पर लटका हुआ है। इस स्थान की प्रसिद्धि यह है कि इसने बौद्ध, ताओ और कन्फ्युशियस, तीनों धर्मों को आश्रय दिया है। वर्तमान में यहाँ कोई नहीं रहता, पर तीर्थयात्री भीतर जाकर देख सकते हैं।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म की तीन शाखाएँ हैं, थेरावाद, महायान

और वज्रयान। श्रीलंका, बर्मा और थायलैण्ड में थेरावाद; चीन, जापान और कोरिया में महायान तथा तिब्बत, चीन और जापान में वज्रयान प्रसिद्ध हैं।

थेरावाद बौद्ध धर्म की सबसे प्राचीन शाखा है। थेरावाद में भक्ति, कृपा जैसे तत्त्वों की आवश्यकताओं की पूर्ति और गृहस्थों को धार्मिक विचारधारा प्रदान करने के अभाव में ही कदाचित महायान का प्रादुर्भाव हुआ। महायान मार्ग के अनुसार उन्नत जीव (बोधिसत्व) दूसरों को भवबन्धन से मुक्त करने के लिए अत्यन्त करुणावश स्वेच्छा से अपने निर्वाण तक का त्याग कर देते हैं। बोधिसत्व के पुण्य द्वारा व्यक्ति इस कृपा को प्राप्त करता है। तीसरे मत वज्रयान अर्थात् रहस्यमय मत का विकास भारत में लगभग ७वीं सदी में हुआ। भारत के स्वर्ण काल (४ से ६ सदी) में विकसित तान्त्रिक मत को इसने मुख्यत: ग्रहण किया। यह सम्प्रदाय भी अन्य बौद्ध मतों की तरह चीन में प्रचारित हुआ।

चीन के बौद्ध मन्दिरों में बुद्ध और विभिन्न बोधिसत्व जैसे मैत्रेय, स्कन्ध, महास्थानप्राप्त और गुयेन्यिन बोधिसत्व की पूजा की जाती है। गुयेन्यिन (अर्थात्, विश्व की ध्वनि का अवलोकन करना) अवलोकितेश्वर बोधिसत्व का दया और करुणा से युक्त नारी का रूप है। चीन में अनेक स्थानों पर गुयेन्यिन के चित्र अथवा मूर्ति के रूप में एक सुन्दर देवी लहराते हुए श्वेत वस्त्रों में आर्शीवाद की मुद्रा में देखी जाती है।

चीन में चार प्रसिद्ध तीर्थ स्थल (बोधिमण्ड) हैं । चारों पर्वत पर स्थित हैं और १५०० कि.मी. की दूरी पर हैं। भारत के चारधामों के समान ही इनका स्थान, सम्मान और महिमा है। ये हैं, पूर्व में माउन्ट पूटो (Putuo), पश्चिम में माउन्ट एमी (Emei), उत्तर में माउन्ट वुताई (Wutai) और उत्तर में माउन्ट जिहुआ (Jiuhua)। ये क्रमश: अवलोकितेश्वर (गुयेन्यिन), सामन्तभद्र, मंजुश्री और क्षितीगर्भ बोधिसत्व को समर्पित हैं। लेखक ने इनमें से पुटो और वुताई का दर्शन किया, जिसका वर्णन आगे दिया जा रहा है।

Mount Putuo – यह पर्वत शेंघाई से २०० कि.मी. दक्षिण-पूर्व पर ७ कि.मी. लम्बे और २.५ कि.मी चौड़े द्वीप पर स्थित है। शेंघाई से पुटोशान तक जाने के लिए द्रुतगति वाली नोकाओं की सुविधा है, जो ८० कि.मी. प्रति घण्टे की रफ्तार से चल सकती है। इसके अलावा बस के द्वारा छह लेन वाले शंघाई एक्सप्रेस-वे से मनोरम दृश्य देखते हुए भी जा सकते हैं। लेखक इसी रास्ते से गए। यह रास्ता अधिकांश ऊपर उठा हुआ है और झील, दलदल भूमि के ऊपर और अन्य प्राकृतिक सुन्दर दृश्यों के ऊपर जाता है। यह एक्सप्रेस-वे पूर्व चीनी समुद्र के Hangzhou Bay खाड़ी के ऊपर बने ३५ कि.मी. सिक्स

लेन पुल को पार करता है। यह विश्व का सबसे लम्बा महासागरपार पुल है, जो प्राकृतिक दृश्य एवं पर्वतों से होकर गुजरता है। सचमुच यह बड़ा रोमांचकारी अनुभव था।

ऐसा वर्णन आता है कि ९वीं सदी में एक जापानी साधु गुयेन्यिन की मूर्ति Wutai से जापान ले जा रहे थे। जब वे इस द्वीप पर पहुँचे तो अचानक तूफान आया। गुयेन्यिन ने प्रकट होकर उन्हें वहाँ मूर्ति छोड़कर चले जाने के लिए कहा। उनके स्वीकार करने पर अचानक तूफान थम गया। साधु ने उनके लिए वहाँ एक मन्दिर बनाया। उसी स्थान पर वर्तमान में Reluctant to leave monstery नाम का मठ है। सम्प्रति इस द्वीप पर ३० बड़े मन्दिर और ५० मठ विद्यमान हैं। गुयेन्यिन की २० मी. ऊँची मूर्ति १३ मी. ऊँचे आधार पर स्थित है, जिसकी शोभा देखते ही बनती है। Putuo द्वीप भक्तिपूर्ण वातावरण से स्पन्दित है। इस द्वीप में सर्वत्र एक आध्यात्मिक उन्नयन का अनुभव किया जा सकता है। लोगों का एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर जाना, झुककर प्रणाम करना, धूप जलाना, प्रार्थना करना और कृपा के लिए हाथ जोड़ना, यह दृश्य देखकर हृदय भक्ति से आप्लावित हो जाता है। **(क्रमशः)**

वड़ोदरा में अन्तर्राष्ट्रीय युवा सम्मेलन

१० और ११ अगस्त, २०१५ को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द मेमोरियल, बड़ोदरा, गुजरात के द्वारा द्विदिवसीय अन्तर्राष्ट्रीय युवा सम्मेलन का आयोजन किया गया । इसमें अधिकांश भारतीय प्रतिनिधियों के अतिरिक्त १३ देशों के ७०० प्रतिनिधियों ने भाग लिया । इस सम्मेलन में युवकों के व्यक्तित्व विकास से सम्बन्धित – विश्व नागरिक और नेतृत्व में युवकों की भूमिका, युवा और शान्ति, मानवीय मूल्यों और वैज्ञानिक मनोभाव का समायोजन, सेवा और आध्यात्मिकता इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला गया । सम्मेलन का उद्घाटन गुजरात के राज्यपाल श्री ओ.पी. कोहली ने किया । रामकृष्ण मठ और मिशन के अनेक वरिष्ठ संन्यासियों, विख्यात लेखकों, प्रेरक वक्ताओं और प्रसिद्ध व्यक्तियों, अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्धन विशेषज्ञ यू.के. की माइकल पौटर आदि ने सभा को सम्बोधित किया । रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव स्वामी सुहितानन्द जी महाराज का सन्देश पढ़ा गया । यू.एस.ए के प्रबन्धन विशेषज्ञ मनुभाई बोरा ने वीडियो कॉन्फ्रेन्स किया । सभी प्रतिभागी यहाँ आकर प्रसन्न और उत्साहित थे तथा उनलोगों ने शिविर आयोजन हेतु आभार व्यक्त किया । दोनों दिनों का पूरा कार्यक्रम आश्रम के वेबसाईट पर प्रदर्शित किया गया, जिससे विभिन्न देशों के ८००० लोग लाभान्वित हुए ।

आन्ध्रप्रदेश के **रामकृष्ण मिशन, राजमन्द्री** ने गोदावरी पुष्करम् के पावन अवसर पर १४ से २५ जुलाई तक प्रतिदिन ६००० तीर्थयात्रियों को भोजन, १५००० तीर्थयात्रियों को मट्ठा और २००० बच्चों को दूध वितरण किया। गोदावरी नदी का यह उत्सव बारह वर्षों में एकबार आता है। उड़ीसा, **रामकृष्ण मिशन, पुरी** ने रथयात्रा उत्सव के दौरान लगभग ३०,००० तीर्थयात्रियों को नींबु-शरबत और ५०,००० पानी-पैकेट बाँटे। उत्सव के दौरान आयोजित चिकित्सा-शिविर में ४४७ रोगियों की चिकित्सा की गई। ग्रीष्म ऋतु में पैदल यात्रियों को नींबु-शरबत बाँटा गया।

रामकृष्ण मिशन **विवेकानन्द विश्वविद्यालय**, बेलूड़ ने ४ जुलाई को अपनी संस्थापना की दसवीं वर्षगाँठ मनाई और दीक्षान्त समारोह का आयोजन किया। रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के महासचिव श्रद्धेय स्वामी सुहितानन्दजी महाराज ने विश्वविद्यालय के बेलूड़, नरेन्द्रपुर, राँची संकायों से स्नातक-प्राप्त विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र, शैक्षिक-उपाधि और डिप्लोमा प्रदान किए। इसरो के सभाध्यक्ष और अन्तरिक्ष विभाग, भारत सरकार के सचिव डॉ. ए. एस. किरन कुमार ने सभा को सम्बोधित किया।

रामकृष्ण आश्रम, राजकोट ने अमरेली जिले में बाढ़ राहत कार्य के दौरान १२ गाँवों के १३ विद्यालयों में २०८७ शैक्षिक किट बाँटे। **रामकृष्ण मठ, नागपुर** ने २८ अप्रैल से ४ मई तक विद्यार्थियों के लिए ग्रीष्म शिविर का आयोजन किया, जिसमें १२५ विद्यार्थियों ने भाग लिया। **रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वृन्दावन** में ११ जुलाई को डॉक्टर और नर्सों के लिए सभागृह का उद्घाटन हुआ। **रामकृष्ण मिशन, पोरबन्दर** ने १ मई से ३१ मई तक विद्यार्थियों के लिए ग्रीष्म शिविर का आयोजन किया, जिसमें ७८ विद्यार्थियों ने भाग लिया। **रामकृष्ण मिशन, अगरतला** में १८ जुलाई को रक्तदान शिविर आयोजित हुआ, जिसका उद्घाटन त्रिपुरा के मुख्यमन्त्री माननीय माणिक सरकार जी ने किया। इसमें ४२ व्यक्तियों ने रक्तदान दिया।

श्रद्धेय स्वामी वागीशानन्द जी के करकमलों द्वारा **रामकृष्ण मठ, गदाधर आश्रम** (प. बंगाल) में ११ जुलाई को संगणक केन्द्र का उद्घाटन हुआ। श्रद्धेय महासचिव महाराज जी ने २४ जुलाई को **रामकृष्ण मिशन, पुरुलिया** (प. बंगाल) में सारदा सदन (उच्च माध्यमिक विद्यार्थी भवन) का उद्घाटन किया ।

दार्जलिंग भू-स्खलन राहत कार्य – १ जुलाई, २०१५ को अतिवृष्टि के कारण दार्जिलिंग जिले के कुछ क्षेत्रों में लगातार भू-स्खलन हुआ, जिसके कारण अनेक लोगों का जीवन संकट में पड़ गया। **रामकृष्ण मिशन, दार्जलिंग** ने आयोजित चार शिविरों में २०० पीड़ित परिवारों को २०२ हॉर्लिक्स के पैकेट, ४०० बिस्कुट पैकेट, १८४ शिशु-खाद्य पैकेट, २०० साबुन टिकीया, ४०० चटाई, ४०० मच्छरदानी, २०० सौर्य लालटेन, २०० छतरियाँ, कृषि उपयोग में लाए जाने वाले ४ सेट स्प्रे-यन्त्र, १४० नोटबुक, ७० पेन, ७० पेन्सिल, ७० रबर, ७० पेन्सिल-शार्पनर बाँटे। OOO